सिद्ध योग

संस्थापक-सम्पादक :-
योगयोगेश्वर आचार्यश्री [illegible] महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८

अंक १२

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

- सद्गुरुं सेवते बुधः — १
- क्लेशनिवृत्ति का साधन योग (विशेष लेख) — २
  योग योगेश्वर अनन्त श्री जगन्मोहन जी महाराज
- प्रतीक और उनकी उपयोगिता — ६
  ब्र० श्री ज्ञानेगुरु
- वेद-ईश्वरीय ज्ञान — ९
  श्री पारब्रह्म परमार्थी
- दो काव्य प्रसंग (कविता) — १६
  श्री अशोक व्याकुल
- हे वो प्रभु ! वचन कुण्डल (कविता) — १७
  श्री राजीव कुमार
- ध्यान का निरूपण — १८
  श्री माणिकचन्द अमर वैद्य
- संपत्ति और शांति — २३
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- दुःखज्वाला-दग्ध संसार और शांति — २५
  प्रेषक श्री अरुणकुमार
- तपस्विनी माता गांधारी — २७
  श्री मानाभाई भट्ट
- कर्मविपाक-मीमांसा — ३२
  डा० श्री शान्तिप्रकाश जी आत्रेय
- आयुर्वेद में बस्ति-एनिमा — ३८
  श्री महावीर प्रसाद पोद्दार
- पर्व-पुष्प-फल-स्तोत्रम्
- कतिपय उपयोगी आसन — ४५
- द———व———द———द — ४७
  डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
मार्च १९८९

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ३ रुपया

श्री सद्गुरुदेव परब्रह्मणे नमः ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

महाप्रभु श्री रामलालजी की पावन जयन्ती के उपलक्ष में

श्री सिद्ध-गुफा सवांई का

योग-महामेला

सभी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि श्री सिद्ध-गुफा सवांई का वार्षिक योग-महामेला चैत्र शुक्ला सप्तमी, अष्टमी, नवमी दिन बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, दिनांक १६, १७, १८, अप्रैल १९८६ ई० को बड़ी धूम-धाम से मनाया जा रहा है। श्री गुरुदेव जी की ओर से छपे हुए निमन्त्रण-पत्र आप सब को भेजे जावेंगे ही फिर भी यदि किसी को निमन्त्रण-पत्र न मिले तो इसी सूचना को निमन्त्रण-पत्र समझ कर सपरिवार सभी को इस पावन-समारोह में सम्मलित होकर धर्म-लाभ लेना चाहिए।

—सभी आगन्तुक भाई-बहनों को मौसम के अनुकूल अपने-अपने बिस्तर अवश्य साथ लाना चाहिए क्योंकि आश्रम की ओर से बिस्तर देना सम्भव नहीं हो सकता। आगन्तुक महानुभावों को बिस्तर लाने सम्बन्धी इस सूचना पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

निवेदक:—

स्वागत-समिति, श्री सिद्धगुफा योग-महामेला

योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा

सवांई (आगरा)

(कृपया दूसरी ओर भी पढ़ें)

❋ 'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य में वृद्धि ❋

देश-व्यापी महंगाई के कारण—कागज स्याही तथा अन्य मुद्रण सामग्री की कीमतों में भी बढ़ोतरी हुई है। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में इस मूल्य वृद्धि की अप्रत्याशित लहर से 'सिद्धयोग' का प्रकाशन भी प्रभावित हुआ है। अतः इसके वार्षिक मूल्य में पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी महाराज की अनुमति प्राप्त करके ५ रुपया वार्षिक की वृद्धि की जा रही है। अर्थात् 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य नये वर्ष से जो अप्रेल सन् ८६ से प्रारम्भ हो रहा है २५ रुपये वार्षिक की जगह ३० रुपया वार्षिक होगा। अतः सभी ग्राहक भाई-बहिनों को इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए 'सिद्धयोग' का नये वर्ष का मूल्य ३० रुपया भेजना चाहिये। इसी अङ्क में पृष्ठ ४८ पर मूल्य सम्बन्धी जो सूचना छपी है उसे भी इस परिवर्तन के अनुसार सुधार लेना चाहिये। यानी नये वर्ष का मूल्य २५ रुपये की जगह ३० रुपया वार्षिक जमा कराना चाहिए।

सभी दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाओं ने अपने मूल्य जिस अनुपात से बढ़ाये हैं 'सिद्धयोग' की मूल्य वृद्धि अनुपात में उन सबसे कम है। केवल योग धर्म के प्रचार प्रसारार्थ ही 'सिद्धयोग' प्रारम्भ से ही लागत मूल्य से भी अपेक्षाकृत कम मूल्य पर अपना प्रकाशन जारी रखते हुये है। आशा है इसके प्रकाशन के महान् उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ही सुहृद और सुधी ग्राहकों तथा पाठकों का पूरा-पूरा सहयोग पूर्ववत् प्राप्त होता रहेगा।

विनीत :

प्रकाशक तथा व्यवस्थापक

'सिद्धयोग'

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (हरनादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क १२	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः । तत्राध्यर्थान् बहुविधाई योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥	मार्च १९८६

❀ सद्गुरु सेव्यते बुधः ❀

प्रशान्त चित्तस्य जितेन्द्रियस्य
गुणान्वितस्याऽगुरुसेविनश्च ।
नूनं भवेद्योग समस्त सिद्धि-
र्नान्येतरासक्त जनस्य कस्य ॥

भावार्थ—

जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय गुणी एवं सभी प्रकार गुरु की सेवा करने वाला होता है, उसी को योग-सिद्धियां प्राप्त होती हैं अन्य विषयासक्त जनों को नहीं।

महात्मा कपिलदेव ने भी कहा कि—

अनेक जन्म संस्कारात् सद्गुरुः सेव्यते बुधः ।
सन्तुष्टः श्री गुरुदेव आत्मानं प्रदर्शयेत् ॥

यदि अनेक जन्मों का फल प्राप्त हो तभी उन सद्गुरुओं के सेवन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है—जो प्रसन्न होने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करा देते हैं।

हमारा विशेष लेख—

❀ योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

'वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष' के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निश–निरन्तर चलता ही रहता है। इसकी निवृत्ति का साधन यदि कोई हो सकता है तो वह केवल योग ही हो सकता है। इसी सिद्धांत का समर्थन भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' सूत्र द्वारा किया है।'

प्रस्तुत लेख में योग द्वारा सभी क्लेशों का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है तथा किस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटा जा सकता है, इसे सप्रमाण समझाने का प्रयास किया गया है।

क्लेशनिवृत्ति
का
साधन योग

हम इससे अपने पिछले लेखों में यह भली प्रकार से समझा चुके हैं कि हमारा इष्टाइष्ट जन्मसम्वेदनीय कर्माशय क्लेशमूलक है। कर्माशय को जन्म देने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश आदि पांच क्लेश ही हैं। और इन पांचों क्लेशों की जननी अविद्या है जिससे मनुष्य के जन्म-मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। हजारों उपाय करने पर भी जीव इस घोर संकट से निकल नहीं पाता। वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार एवं संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निश निरन्तर चलता रहता है। इसकी निवृत्ति का कोई साधन हो सकता है तो वह केवल मात्र योग ही है. भगवान श्री पतञ्जलि जी देव ने योग की परिभाषा लिखते हुये योग दर्शन के आरम्भ में ही "योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः" यह करके चित्तवृत्ति निरोध को ही योग बतलाया है। बहुत से लोग चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का रोकना समझ बैठते हैं किन्तु यथार्थ में अर्थ यह नहीं है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है "चित्तवृत्ति-नाम् निःशेषरोधः निरोधः।" अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ चित्त-वृत्तियों का समूलोन्मूलन ही है। यदि हमारे मन में वृत्तिएं बनी रहीं तो वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तिएं यह चक्र बराबर चलता ही रहेगा। हमारा चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है और वह चित्त जैसी-जैसी स्थितियों में होता है वैसे-वैसे वृत्ति संस्कार चक्र को बराबर बनाता चला जाता है। योगश्चित्त वृत्ति निरोधः इस सूत्र पर

भाष्य लिखते हुए चित्त को पाँच भूमिकाओं में बाँट दिया है। इनमें से क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। इन सभी भूमिकाओं में अपने गुणात्मक विभाग के अनुसार चित्त बंटा रहा करता है। कहीं पर सतोगुण की प्रधानता है, कहीं पर रजोगुण की प्रधानता है तो कहीं पर तमोगुण की प्रधानता है। यदि कहीं पर सतोगुण चमक उठता है तो कालान्तर में वहीं चित्त समाधि के बल से निरुद्ध हो जाया करता है। मूढ़ावस्था के चित्त में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण और सतोगुण गौण हो जाया करते हैं। क्षिप्तावस्था के चित्त में रजोगुण की प्रधानता हो जाती है और तमोगुण सतोगुण गौण हो जाते हैं। विक्षिप्ता अवस्था के चित्त में सतोगुण प्रधान हो जाता है और रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाते हैं। एकाग्रावस्था के चित्त में रजोगुण और तमोगुण न की बराबर रहते हैं और सतोगुण दैदीप्यमान होकर चमक उठता है। इन चारों स्थितियों के अन्दर चित्त जैसी-जैसी भूमिकाओं से निकलता है वैसे-वैसे अविद्या-जनित वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता रहता है अर्थात् मूढ़ावस्था का चित्त अंधकार प्रधान मूढ़ वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता है। क्षिप्तावस्था का चित्त रजोगुण प्रधान और विक्षिप्तावस्था का चित्त सतोगुण प्रधान तथा एकाग्रावस्था का चित्त उत्कृष्ट सतोगुण प्रधान दैविक वृत्ति संस्कार चक्र का कारण बनता है। केवल मात्र निरोधावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें जाकर के सभी प्रकार के वृत्ति-संस्कार चक्रों का विलय हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलिदेवने योगदर्शनमें योगश्चित्तवृत्ति निरोधः इस सूत्र का निर्माण किया। हमारे सभी धर्माचार्यों और व्याख्याताओं ने निरोधः समाधि और समाधि समतावस्था-जीवात्म परमात्मन कहकरके समाधि को ही माया के बीच से परे निर्बीज का रूपक दिया है। किन्तु भगवान व्यासदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग बतलाया है। उसका कारण केवल मात्र एक ही है कि संप्रज्ञात समाधि में साधक उस रास्ते पर अग्रसर हो जाता है, इसलिए संप्रज्ञात समाधि भी वृत्तियों के उपशमन की एक सीढ़ी है। योग-दर्शन के साधनपाद में दृश्य को भोग और अपवर्ग का दाता माना है।

प्रकाश क्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रि-
यात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थात् सतोगुण-रजोगुण और तमोगुणात्मक चित्त एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ए[illegible] आकाश यह पाँचों महा भूत और पंचमह-भूतों को नासिका जिह्वा, आँखें, त्वचा व [illegible] कर्मेन्द्रिय आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रिय द्वारा इन [illegible] के समुच्चय से बनता है और यह दृश्य [illegible]

एक साधक के लिए भोग और अपवर्ग का दाता हुआ करता है। जो लोग इस दृश्य को पांचों ज्ञानेन्द्रियों के बाहरी भाग से देखते रहते है, वे लोग भोगों के भोक्ता बने रहते हैं एवं वृत्ति संस्कार-चक्र को बराबर बनाते रहते है। आंख रूप को देखती है। रूप को देखकर सुन्दर रूप है तो उसमें आसक्ति पैदा कर लेती है कुरूप है तो घृणा पैदा कर लेती है। अच्छे और बुरे संस्कार दोनों ही जन्म-मरण के कारण बन जाते है। और इसी प्रकार अच्छे पदार्थ ग्रहण करती है तो राग को बढ़ा लेती है और वही रसीले पदार्थ कटु तिक्त व किसी प्रकार से घृणायुक्त होते है तो उन में द्वेष पैदा कर लेती है। इसी प्रकार से त्वचा अच्छे स्पर्शों में सुख एवं बुरे स्पर्शों में दुःख। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय अच्छे शब्दों के सुनने में राग और कर्ण कटु शब्द सुनने से द्वेष पैदा करके क्लेश मूलक कर्माशय को बना लेती है। इसके अतिरिक्त यही सारे दृश्य जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखे समझे और सुने जाते हैं—इन सब को हम इन्हीं इन्द्रियों के भीतरी भाग से देखते और सुनते है तो यही वृत्ति संस्कार चक्र जिसको बाहर से देख सुन करके हमने जन्ममरण को खरीद लिया और यही सब दृश्य यदि अन्तर्दृष्टि से देख लिया जाय तो यह सम्प्रज्ञात योग का रूप धारण कर लेता है जिसका संकेत अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण गीता में इसप्रकार करते है।

या निशा सर्व भूतानाम्
तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनेः।

अर्थात् संसार के सब प्राणियों की जो रात है मुनि लोग उसमें जगते रहते है और जिसमें मुनि लोग जागते है उसमें संसार के सभी लोग सोते रहते हैं एक प्रकार से इन्द्रियों के भीतरी भाग से दृश्य को देखने का अर्थ सम्प्रज्ञात योग है। अन्तर्दृष्टि से दृश्य के देखने में वृत्तियों का उपशमन होता रहता है। बाह्य दृष्टिसे देखनेमें वृत्ति और संस्कार-आशय का उत्तरोत्तर जनन होता रहता है। क्लेश बनते रहते है और मनुष्य जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है और यदि साधक अन्तर्जगत में प्रवेश करके अन्तर्जगत का द्रष्टा बन जाता है तो वहां पर वृत्तियां संस्कारों की जन्मदात्री न बन करके क्षीण होती चली जाती है अर्थात् संप्रज्ञात समाधि में क्लेशों का तन्वीकरण हो जाता है और धीरे-धीरे फिर यह अपवर्ग का जनक बन जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव अपने सूत्र में कहते है कि—

ध्यान हेयास्तद् वृत्तयः

अर्थात यह सारी की सारी वृत्तियां ध्यान

के द्वारा हटाई जा सकती है। ध्यान द्वारा अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा इनका तन्वीकरण हो जाने के बाद मनुष्य मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ जाता है पढ़िए उपरोक्त सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियां—

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद् दग्ध बीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महत्प्रतिपक्षा इति।

अर्थात् क्लेशोंकी जो स्थूल वृत्तियां हैं उन का तप स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूप क्रिया योग के द्वारा तन्वीकरण हो जाने पर उन्हें प्रसंख्यान अथवा ध्यानयोग के द्वारा हटाया जा सकता है। ध्यानाभ्यास के द्वारा जितना जितना उनका सूक्ष्मीकरण हो जायगा उतनी उतनी वे सब दग्धबीज दशा की ओर बढ़ती चली जायेंगी और बाद में समाधि के बल से बिल्कुल निर्बीजता को प्राप्त हो जायेंगी। उदाहरण से इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। एक व्यक्ति बहुत मैले कपड़े को धो कर साफ कर लेता है किन्तु फिर भी यदि उसमें सूक्ष्म मल अर्थात् धब्बे आदि कुछ रह जाते हैं तो वह सब रेह-काट आदि दूसरे उपायों से साफ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ध्यान योग के द्वारा साधक अपनी वृत्तियों का शमन कर लेता है। किन्तु फिर भी यदि अंश मात्र कुछ रह जाता है तो वह प्रसंख्यान बल से दग्धबीज होकर नष्ट हो जाया करता है। इसी के लिए भगवान पतञ्जलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट लिख दिया है कि—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः

अर्थात वृत्तियों के सूक्ष्म अंश जो रह जाते हैं वह सब लयता के द्वारा समाप्त हो जाते हैं।

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीज कल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति।

अर्थात ध्यानयोग के द्वारा दग्ध बीज के समान हुए वे क्लेश, जिस योगी का चित्त प्रसंख्यान बल से अर्थात् निर्बीज समाधि तक पहुँच जाने के बाद चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। समाधि की नीचे की भूमिकाओं में चित्त थोड़ा-थोड़ा काम करता रहता है, किन्तु जहां पर निर्बीज समाधि का उदय हुआ वहां पर चित्तका अधिकार भी समाप्त हो जाता है। इससे आगे जाने का तो कोई अधिकार है ही नहीं। उसका परिणाम यह होता है, कि चित्त अपनी मूल प्रकृति में जाकर समाप्त हो

प्रतीक और उनकी उपयोगिता

ले० पू० श्री सानेगुरु

प्रत्येक संस्कृति कुछ प्रतीकों का निर्माण करती है। जिस प्रकार फल में सारे वृक्ष का विस्तार समाया रहता है उसी प्रकार प्रतीकों में अनन्त अर्थ समाया रहता है। हमारे यहाँ सूत्र ग्रन्थों की रचना प्रसिद्ध है। बहुत से शास्त्रों के सूत्र ग्रन्थ हैं। मतलब यह है कि शास्त्रों के सिद्धांत उन सूत्रों में समाये रहते हैं प्रतीक मानों संस्कृति के सूत्र ही हैं। वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक बाह्यक्रिया आन्तरिक विचारों की प्रतीक होती है। हमारा मन ही सैकड़ों कृतियों में प्रकट होता है। पहले मन झुकता है तब फिर बाहर सिर झुकता है। पहले हृदय भर आते हैं तब आँखें भर आती हैं। पहले मन को पीड़ा होती है तब हाथ उठते हैं। मनमें फूटा हुआ अंकुर ही क्रिया है।

भारतीय संस्कृति में सैकड़ों प्रतीक हैं। हमें उन का अर्थ खोजना चाहिये। जब अर्थ-हीन प्रतीक पूजे जाते हैं तब धर्म मन्त्रवत् बन जाता है। नव-युवक इन प्रतीकों को फेंक देते हैं। वे कहते हैं कि हमें इन प्रतीकों का अर्थ समझाइये। जब अर्थ मालूम हो जाता है तो प्रतीक जीवित होते हैं। उन प्रतीकों में जैसे प्राण आ जाते हैं।

कमल भारतीय संस्कृति का प्रधान प्रतीक है। कमल को हम सारे प्रतीकों का राजा मानते हैं। अतः इस कमल पुष्प में इतना बड़ा और अच्छा अर्थ कौनसा है?

ईश्वर के सारे अवयवों को हम कमल की उपमा देते हैं। जैसे-कमल-नयन, कमल-वदन, कर-कमल, चरण-कमल, हृदय-कमल आदि कहने में कौन-सी मधुरता है? कमल में अलिप्तता का गुण है पानी में रहकर भी पानी से अलिप्त हुआ कुछ ऊपर रहता है। कीचड़ में उत्पन्न होकर भी कीचड़ से ऊपर उठकर सुगन्धि को संचित करता है अतः वह बुराई में से भी अच्छाई ग्रहण करता हुआ अपना विकास करता है। कमल अनासक्त है। हम कहते हैं कि ईश्वर करके भी अकर्ता ही रहता है। वह सारे संसार का व्यवहार चलाता है; लेकिन वह सारा व्यवहार वह अनासक्त रहकर ही चलाता है।

उसका तीसरा गुण है कि वह प्रकाश में

(पिछले पृष्ठ का शेष)

जाता है और उसके साथ-साथ क्रिया योग के द्वारा जो चित्त वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी थीं वे चित्त-वृत्तियाँ भी उस चित्त के साथ ही विलीन हो जाया करती हैं। अतः मनोरोगों का समूलोन्मूलन का एक मात्र मूल साधन योग ही है। जिसको पाकर साधक उस परम शान्ति को उपलब्ध करता है, जिस का नाम शाश्वत शान्ति है। ❋

प्रफुल्लित होता है। भारतीय संस्कृति प्रकाशोपासक है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

कमल शतपत्र है, सहस्रदल है। भारतीय संस्कृति में भी सौ पंखुड़ियाँ हैं। सैकड़ों जातियाँ अनेक वंश, अनेक धर्म, अनेक पन्थ, सभी का सार ग्रहण करके यह बढ़ती है। भारतीय संस्कृति अनन्त पंखुड़ियों का पुष्प बनेगी, क्योंकि पृथ्वी अनन्त है, काल अनन्त है, ज्ञान अनन्त है।

कमल कहता है—अनासक्त रहो। प्रकाश की पूजा करो। अमंगल में से मंगल ग्रहण करो। तपस्या करो। केवल सत्कर्म करते रहो नई-नई बातें ग्रहण करते रहो। यदि प्रश्न किया जाय कि भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है, तो उसका अर्थ होगा 'कमल'।

दूसरा महान प्रतीक है यज्ञ अथवा हवन। हवन का अर्थ है, त्याग, सेवा, परोपकार आदि। चाहे कोई भी संस्कार हो, कोई धार्मिक विधि हो, सब में हवन होता है। कोई भी समाज सेवा का काम शुरू कीजिये, आप को उसमें हवन तो करना ही पड़ेगा।

उपनयन संस्कार में ज्ञान प्राप्त करने के लिए सारे सुखों का हवन करना पड़ेगा। विवाह संस्कार में भी हवन होता है। यदि आप दोनों संसार में आनन्द चाहते हैं, तो अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का हवन करना पड़ेगा।

हम 'श्रीफल' चढ़ाते हैं। मुझे तो उसके तीन भागों में एक बहुत अर्थ दिखाई दिया। कर्म, भक्ति और ज्ञान के तीन भाग ही मानों अनेक हैं। इन तीनों को एकत्र करके बनायी हुई गाँठ ही ब्रह्म गाँठ है। जितना महत्व इन तीनों के सामंजस्य में है उतना विश्लेषण में नहीं है।

हम भगवान को किसी सुगंधित फूल चढ़ाते हैं। यह फूल क्या है? यह फूल हमारे निष्कपट एवं प्रफुल्लित हृदय का प्रतीक है। उस फूल के रूप में हम अपना हृदय-पुष्प को भगवान को अर्पण करते हैं। भक्ति अव्यभिचारिणी होती है। 'Love is jealous'—प्रेम किसी अन्य को सहन नहीं करता। हृदय एक ही व्यक्ति को दीजिये। अपना निर्दोष, पूरी तरह खिला हुआ व सुगन्धित हृदय-पुष्प सेवा कर्म को अर्पण कर दो।

हम भगवान को नैवेद्य लगाते हैं। भगवान को कौनसा नैवेद्य प्रिय है? हमारी सारी क्रियायें ही नैवेद्य हैं। हम मानव मात्र हमारे सर्वों से अनन्त बाह्य-आन्तरिक क्रियायें करते जा रहे हैं। ये सब भगवान के पास जाती हैं। भगवान को कर्म का नैवेद्य लगाना चाहिये।

भारतीय संस्कृति में स्वास्तिक चिह्न का बड़ा महत्व है। स्वास्तिक का अर्थ है कल्याण, इस चिन्ह के अन्तर्गत यह भाव है कि सब का शुभ हो सब का भला हो।

ब्रह्मचारी, परिव्राजक, संन्यासी इन सब के हाथों में दण्ड रहना चाहिये। दण्डधारी होने का बड़ा गूढ़ अर्थ है। जिस प्रकार दण्ड सरल होता है, वह झुकता नहीं उसी प्रकार यदि ब्रह्मचारी, संन्यासी के आगे मोह, काम-क्रोध आवें तो उनके आगे झुक न जावें उनको दूर भगा दें। ब्रह्मचारी संन्यासी ध्येय को नहीं छोड़ते किसी के आगे झुकते नहीं सिवाय गुरु के। वह गृहस्थी की तरह "त्वचा अर्थं भया अर्थं" जैसा व्यापार नहीं बनाते।

विवाह संस्कार में सप्त पदी की विधि सब से अधिक महत्व की है। सात कदम साथ-साथ चलना। लेकिन सात कदम का अर्थ सात कदम ही नहीं है। हमेशा साथ-साथ रहें साथ-साथ चलें। क्योंकि वार सात हैं। सप्ताह के सातों दिन हम साथ-साथ रहें। प्रत्येक दिन हमारे कदम साथ-साथ पड़ें।

भारतीय संस्कृति में सोलह संस्कारों में, इस प्रकार के अनेक प्रतीक हैं। मृत्यु के बाद जब शव ले जाया जाता है तब एक मटका उसके सामने ले जाकर फोड़ा जाता है। इस का मतलब है कि यह तो मृण्मय शरीर था, यह अब फूट गया है। इस में रोने जैसी या अलौकिक बात कौन सी है। उसे नये वस्त्र पहनाये जाते हैं, क्योंकि वह नवीन घर में जा रहा है। अतः उसे शुद्ध होकर भगवान के पास जाने दीजिये।

जब हम घर से बाहर कहीं अन्यत्र जाते हैं तो हाथों पर दही दिया जाता है। वह दही या सेना होता है, लेकिन हाथ नहीं धोने होते। हाथ देखे ही चाट लिये जाते हैं। यदि गहराई से देखा जाय तो उसमें सहृदयता दिखायी देती है। दही स्निग्ध वस्तु है। स्निग्धता मत भूलो। यह चिपचिपा हाथ मानो प्रेम से हृदय जोड़ का साधन है। अर्थात् उस प्रेम, उस आद्रता को मत भूलो।

संक्रान्ति पर हम तिल गुड़ लेते हैं। तिल मानो स्नेह है। उस स्नेह में गुड़ मिलाना है। इसका मतलब है कि कृत्रिम, दिखाऊ और मन में जहर रख कर प्रेम नहीं करेंगे। तब उस स्नेह में सचमुच सद्भावना होगी। वह प्रेम मधुर होगा। पहले की बातें भुला दें। अपने जीवन में परिवर्तन करें। क्रान्ति करें।

पूर्णिमा के दिन होली जलाकर बोध किया जाता है। पूर्णिमा के एक मास पूर्व से काम चलता है। इसका मतलब है कि मनुष्य के मन में दबी हुई विषय वृत्ति को बाहर निकाल कर जला दें। और तुम्हारे मन में क्या है? उसे बाहर निकाल दो। होली के बिना रंग-पंचमी भी नहीं हो सकती। जीवन की गंदगी जलाओ और फिर रंग-पंचमी खेलो।

मूर्ति पूजा भी प्रतीक है। राम की मूर्ति देखते ही राम का चरित्र आंखों के सामने आ

(शेष टाईटल के तीसरे पृष्ठ पर)

वेद-ईश्वरीय ज्ञान

ॐ श्री पारब्रह्म परमार्थी

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। यजु०

उस भगवान् के परम पद अर्थात् मोक्ष को वही लोग प्राप्त कर सकते हैं जो अपने जीवन को ईश्वरीय नियमानुसार ढाल चुके हैं। और जिन्होंने दैवी सृष्टि को ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश में देख लिया है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से लाभ उठाने का अधिकार उन्हीं लोगों को है जिनकी आँखों में दृष्टि विद्यमान है। मनुष्य की आँख और सूर्य का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार मानव-बुद्धि और ईश्वरीय ज्ञान का भी गहरा और आवश्यक सम्बन्ध है। यह एक वाक्य है जिसकी व्याख्या और भाष्य विभिन्न धर्मों का वास्तविक आधार है।

अनुभव और प्रत्यक्ष हमें स्पष्ट बतला रहे हैं कि इस ईश्वर की सृष्टि में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी वस्तु पर आश्रित न हो। जड़ से लेकर वनस्पति तक और पशु से लेकर मानव तक प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित है, कि बिना एक दूसरे के सहयोग के कोई कार्य चल नहीं सकता। यदि इस शृंखला से कोई भी वस्तु पृथक् कर दी जाय तो सारी व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाय।

यदि एक ग्रह दूसरे ग्रह पर आश्रित है तो एक तत्व दूसरे तत्व की सहायता पर। थोड़ी देर के लिए यदि हवा न रहे तो आग भी नहीं रह सकती। आग के न होने से पानी जम कर हिम बन जायगा। फिर न कार्बन होगी न ओषजन—(आक्सीजन)। न वनस्पति उग सकेगी और न प्राणियों का जीवन रहेगा, एक तत्व के न होने से यह समस्त संसार नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। जलचरों का जीवन दूसरे प्राणियों पर आश्रित है। मरुस्थल के प्राणी दूसरों के अस्तित्व पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। मनुष्य अपना जीवन वनस्पति से पूर्ण करता है और वनस्पति को हमारे मुख से निकली हुई कार्बोनिक एसिड गैस की आवश्यकता है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि समस्त तत्व व्यक्तिगत रूपेण स्वयं पूर्ण हैं परन्तु सामूहिक रूपेण एक दूसरे के आश्रित हैं।

यदि आकाश न हो तो मनुष्य बोल नहीं सकता। वायु मण्डल इस प्रभाव को दूसरे तक पहुँचाने के लिये मनत्व क्रिया से काम न लेता तो हमारी वाणी व्यर्थ थी और श्रवण शक्ति निरर्थक। हमारा अस्तित्व धरती पर है, परन्तु पैरों के होते हुए भी यदि धरती न होती तो हम यहां टिक नहीं सकते थे। पृथ्वी का अभाव हमारे शरीर को छिन्न भिन्न कर देता। इसी प्रकार यदि वायु न हो तो हमारे प्राण एक क्षण में हवा हो जायेंगे।

वेद ने उपर्युक्त मंत्र में मानव बुद्धि को आंख से और ईश्वरीय ज्ञान को सूर्य से उपमा

दी है। और बताया है कि परमात्मा की दी हुई विभिन्न शक्तियों और उत्तम पदार्थों तथा वास्तविक आनन्द के प्राप्त करने का वही व्यक्ति अधिकारी है जिसने ईश्वर और उस की शिक्षा के अनुसार अपने जीवन को शुद्ध कर लिया हो और उसी प्रकाश से अपने हृदय तथा मस्तिष्क को प्रकाशित कर लिया हो। वेद भगवान की वाणी है 'दिवीव चक्षुराततम्' जिस प्रकार सूर्य के द्वारा ही आँखों से समस्त वस्तुयें देखी जाती है और आँखों का सूर्य के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है, उसी प्रकार मानव बुद्धि को भी ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है। और इस बुद्धि का उस ज्ञान के साथ सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार यह आँख और सूर्य सांसारिक वस्तुओं को देखने के लिए अन्योन्याश्रित है उसी प्रकार हमारी अन्तर दृष्टि अर्थात् बुद्धि और ईश्वरीय ज्ञान है। क्योंकि मनुष्य आँख रहते हुए भी जब तक सूर्य न हो किसी वस्तु को नहीं देख सकता और न ही आँख के अभाव में सूर्य से देखने में कुछ सहायता ली जा सकती है। इसी प्रकार जब तक बुद्धि न हो, मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान से लाभ नहीं उठा सकता और ईश्वरीय ज्ञान न हो तो मानव-बुद्धि व्यर्थ है। इससे सिद्ध है कि ईश्वरीय ज्ञान और बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध है ताकि सत्य-असत्य में भेद मालूम हो और सृष्टि के रहस्य का पता लग सके और उस व्यापक ब्रह्म का पता लग सके जिसने इस विविध प्रकार की सृष्टि की रचना की है और मानव को बुद्धि देकर इन रहस्यों के समझने की योग्यता प्रदान की है।

मनुष्य और पशु में यही एक अन्तर है कि मनुष्य अस्ति व नास्ति को समझता और उस पर विचार करता है पशु में यह शक्ति नहीं कि वह कोई नयी वस्तु का आविष्कार कर सके और उस परम पिता परमात्मा के वास्तविक गुणों का चिन्तन मनन कर के इस की लीला के रहस्यों को प्रकट कर सके। यह गौरव शक्ति और योग्यता भी केवल मनुष्य को ही प्राप्त है अन्यथा खाना, पीना, सोना, जागना, चलना, फिरना तथा अन्य शारीरिक कार्यों में मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं है। मानव में अनुभव, विवेक, विचार शीलता बुद्धिमत्ता आदि ही वे गुण हैं जिनके कारण वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ माना जाता है। अतः वेद भगवान ने स्वाभाविक रूप में ही इस प्राणी का नाम मनुष्य रख दिया। मनुष्य का यह नाम ही इस बात का द्योतक है कि यही वह प्राणी है जो चिन्तन, मनन और मेधा द्वारा गम्भीर विषयों पर बुद्धिवाद करके ईश्वरीय नियमों के रहस्य से पूर्णतया परिचय प्राप्त कर सकता है। यदि मनुष्य में यह गुण विद्यमान न होता कि वह कुछ सोच समझ सके तो इस में बुद्धि न होती।

बालक पैदा होते ही प्रकाश और अन्धकार में भेद करता है चमत्कार और प्रकाशमान वस्तुओं की ओर उसके मन की रुचि होती है। कभी चांद को पकड़ने के लिए लपकता है। कभी तारे को अपने पास लाने की इच्छा करता है कभी सूर्य की तरफ हाथ बढ़ाता है। कभी दीपक की ओर उछलता है, जैसे-जैसे इस बालक की आयु का विकास होता है उसी प्रकार उसकी मेधा शक्ति बढ़ती जाती है। और उस का अनुभव बढ़ने लगता है यहाँ तक कि वह समझ जाता है कि आग गर्म और पानी शीतल है। इस संसार में हमारे माता पिता कौन हैं, कौन हमारे रिश्तेदार हैं, कौन हमारे शुभ चिंतक और मित्र हैं आदि। एक अन्धे मनुष्य में भी जो प्रकाश से वंचित है इस ज्ञान-बुद्धि की लहर उठती है और रास्ता दिखाने के लिए एक लाठी का सहारा लेने को विवश करती है। यह शक्ति मानव के लिए साधारण है। वास्तविकता यह है कि मानव का गुण ही बुद्धि है।

ईश्वरीय विधान में मनुष्य का अपनी बुद्धि से काम लेना और अपनी मेद शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ईश्वरीय रहस्यों का समझना ही मानव बुद्धि का चरम लक्ष्य है और यह चरम लक्ष्य ही सच्चा धर्म है।

भगवान मनु ने कहा है :—

आर्षं धर्मोपदेशं च,
वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानु संधत्ते
सधर्मं वेदने तरः ॥

विद्वानों को चाहिए कि विद्या की आंख से जांच कर किसी बात को स्वीकार करें जिसको बुद्धि व तर्क काट न सके उसी को धर्म समझें। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि इस लिए दी है कि वह अपनी आवश्यकता को समझे और उसके प्राप्त करने की योग्यता को इस बुद्धि पर आधित करे।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर असीम है और मानव बुद्धि ससीम। अतः बुद्धि के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करना भूल है तो यह एक तार्किक भूल होगी। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान का असीम होना और ससीम मानव बुद्धि में न आने का विचार भी तो इसी ससीम बुद्धि द्वारा ज्ञात हुआ है। हमें यह ज्ञान है कि परमात्मा की शक्तियों और उसके कामों की सीमा नहीं। ईश्वर के क्रिया कलापों को सीमित करना मानव बुद्धि से बाहर है परन्तु जब ईश्वर के सम्बन्ध में इतना जान लिया और समझ लिया तो फिर इस आंशिक ज्ञान के द्वारा पूर्ण ज्ञान का पता लगाना और इस पर विचार करना असम्भव नहीं है। मान लो कि आदमी ने यदि वृक्ष की एक शाखा को देख लिया परन्तु वह वृक्ष की पूरी शाखा तक दृष्टिपात करने में असमर्थ है

तो क्या यह यह अनुमान नहीं लगा सकता कि इस वृक्ष में अन्य शाखायें भी इसी प्रकार की हैं और जो गुण एक पत्ते में है ठीक वही गुण अन्य पत्तों में भी मौजूद हैं। तर्क विद्या में अंश से पूर्ण और पूर्ण से अंश को समझना अत्यन्त सरल बताया गया है। यद्यपि हम उस ईश्वर को सीमा में नहीं बांध सकते परन्तु उस के सब गुणों को देखकर अन्य गुणों का अनुमान तो कर सकते हैं। क्योंकि जो गुण और नियम-सिद्धान्त क्रिया ईश्वर के हैं वे हमारे प्राप्त ज्ञान के प्रतिकूल नहीं हो सकते। क्यों कि एकता में विरोधी गुणों का होना असम्भव है। इससे स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति ने ईश्वर के एक गुण अथवा इस के सम्बन्ध में कुछ समझा वह यह नहीं कह सकता कि मैं ईश्वर को नहीं जानता। और न वह यह कह सकता है कि मैं ईश्वर को पूरा पूरा जानता हूँ। दृढ़ विश्वासी, शिव संकल्प युक्त ऋषियों ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है। "न विद्मो न विजानीमः" नहीं कह सकते कि हम ने इस ब्रह्म को, सत्यस्वरूप को जान लिया है क्यों कि वह असीम है, और इसकी अनन्त शक्तियों का पार पाना इस सीमित-बुद्धि मानव से असम्भव है और न ही हम यह कह सकते हैं कि हमने परमात्मा को नहीं जाना क्योंकि इस की शक्तियों और अनन्त नियमों तथा असीमितता का ज्ञान भी तो इसी सीमित बुद्धि द्वारा ही हुआ है।

हाँ, यह सत्य है कि मानव-बुद्धि भूल करती है। और यह भी बात ठीक है कि मनुष्य भूलों का पुतला है। सम्भव है जो ज्ञान इसने प्राप्त किया वह गलत हो और इसका अनुमान प्रत्यक्ष के विरुद्ध हो यदि इस नियम या उक्ति को प्रत्येक स्थान पर माना जाय तो यह इतना भयंकर सिद्ध होगा कि इसके आधार पर कोई भी ज्ञान, नियम और सिद्धान्त ठीक ही नहीं माना जा सकेगा, और न ही किसी सिद्धान्त के सत्य अथवा असत्य मानने पर शंका हो सकेगी। क्या पता कि परमात्मा के असीम होने का जो ज्ञान मानव की ससीमबुद्धि ने प्राप्त किया है वह भी गलत हो इस प्रकार अनावस्था एवं अव्यवस्था का दोष आ जायगा, जिसका निराकरण किसी प्रकार भी संभव नहीं हो सकेगा। और जैसा हम ने जाना कि आग गर्म है, पानी शीतल है, भोजन गरम है, भोजन से भूख मिटती है, और वस्त्रों से शरीर की रक्षा होती है, और फिर हम यह सोचें कि यह ज्ञान तो मानव की सीमित-बुद्धि द्वारा प्राप्त हुआ है इसलिए सम्भव है कि ये अनुभव गलत हो तो स्पष्ट है कि इस अवस्था में आग, पानी, हवा और संसार की प्रत्येक वस्तु का काम में लाना अत्यन्त ही दुष्कर हो जायेगा। तथा हमें हर क्षण सन्देह बना रहेगा कि सम्भव है अमुक सिद्धान्त अथवा अमुक ज्ञान गलत हो।

इस प्रकार हमारे जीवन का एक-एक क्षण सन्देह में पड़कर दूभर हो जायेगा और संसार की व्यवस्था के अनुमान में बहुत ही कठिनाई उत्पन्न होगी, अतः यही उचित है और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि ईश्वरीय-नियमों को सीमा में बान्धना मनुष्य की बुद्धिशक्ति से दूर है परन्तु जब लगातार यह मालूम हो चुका कि आग गर्म और पानी सर्द है, तो यह मान लेना चाहिए कि निश्चय ही ईश्वरीय नियम यही है। और अब इस में सन्देह अथवा तर्क करना व्यर्थ है।

अनुमान के गलत होने की सम्भावना केवल कार्य-कारण के क्रम को गलत समझने से होती है। अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर कार्य-कारण के क्रम से किसी वस्तु की वास्तविकता का अनुमान लगाया जाय तो अप्रकट और अप्रत्यक्ष नियम प्रतिकूल नहीं हो सकते।

यह सिद्धान्त निश्चय है कि ईश्वर असीम है और जब मानव-बुद्धि ईश्वरीय ज्ञान से सम्बद्ध हो जाती है और अपने समस्त क्रिया-कलापों को इसी ज्ञान के आधार पर स्थित कर देती है तो यह बुद्धि भी असीम हो जाती है। असीम ईश्वर और असीम नियमों के सम्बद्ध होने पर कोई भी वस्तु सीमित नहीं रह सकती। जिस प्रकार लोहा आग का सम्पर्क प्राप्त करके गर्म और प्रकाशमान होता है इसी प्रकार मानव बुद्धि ईश्वरीय-ज्ञान का सम्पर्क प्राप्त करके उससे सम्बद्ध होकर असीम हो जाती है। और मनुष्य ईश्वरीय प्रकाश से चमक उठता है और बुद्धि में ईश्वरीय झलक आ जाती है जिसके सहारे वह देखता है और ठीक रूप में प्रत्येक वस्तु का अनुमान लगा लेता है।

संसार में देखा जाता है कि छोटे-छोटे व्यक्ति बड़ों के साथ रह कर बड़े बन जाते हैं। पानी दूध में मिलकर दूध कहलाता है। तांबा सोने में मिलकर सोने का मूल्य प्राप्त करता है। मनुष्य की सीमित शक्ति और सीमित दृष्टि दूरबीक्षण यंत्र के प्रयोग से हजारों मील की चीजें देख सकती हैं और लाखों मील दूर ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों का हाल मालूम कर लेती है।

एक वस्तु जो अत्यन्त सूक्ष्म है, आतशी-शीशा या ऐनक के सामने आते ही स्थूल दिखाई देने लगती है। वेद भगवान की वाणी है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविताधियः ।
अग्निर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ।

अर्थ—जब मनुष्य अपनी बुद्धि शक्ति और विचार शक्ति को उस ईश्वर से मिला देता है और अपने ज्ञान को उसके असीमित ज्ञान के अनुसार कर लेता है तो वह परमात्मा भी अपने ज्ञान, अपनी शक्ति से इसको वह शक्ति

देता है। ईश्वरीय ज्ञान द्वारा ठीक परिणाम प्राप्त करने के लिए अपनी बुद्धि व अक्ल ज्ञान को पूर्ण कर सके—और आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर के उस ब्रह्म के वास्तविक रूप का साक्षात्कार प्राप्त कर के मोक्ष पद पर आसीन हो।

उपर्युक्त तर्क संगत लेख का सारांश यह है कि ईश्वरीय ज्ञान को मानव-बुद्धि से समझना और ईश्वरीय नियमों तथा ईश्वरीय वाणी में बुद्धि की पहुँच करना शुद्ध आस्तिक भाव है। यदि इसके विपरीत यह समझा जाने कि खुदा की बातों में अक्ल को दखल देना कुफ्र है तो एक सन्देह उत्पन्न होता है कि परमात्मा ने मानव हृदय में ईश्वरीय नियमों के अनुभव करने की शक्ति ही क्यों दी। इसे यह भेद शक्ति क्यों दी। यदि ईश्वरीय ज्ञान में मानव बुद्धि का प्रवेश नहीं तो फिर गधा यह ज्ञान क्यों प्राप्त न कर सके। सूकर इस दिव्य ज्योति से क्यों वंचित रहे। वे पैगम्बर अथवा ऋषि क्यों न बन गए। इस का केवल यही उत्तर है कि पशुओं में वह बुद्धि नहीं जिस के द्वारा कोई प्राणी आत्म चिन्तन कर सके। यह बुद्धि, मनन चिन्तन शक्ति केवल मनुष्य में ही पाई जाती है। अतः आज तक ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ से लेकर मानव को ही प्राप्त होता रहा है। इस से स्पष्ट है कि मानव-बुद्धि के बिना ईश्वरीय ज्ञान समझा ही नहीं जा सकता और इस के साथ यह भी आवश्यक है कि बिना ईश्वरीय ज्ञान के कोरी मानव-बुद्धि कोई कार्य नहीं कर सकती। संसार का इतिहास साक्षी है कि जो लोग ईश्वरीय ज्ञान पर विश्वास नहीं करते, शब्द प्रमाण को नहीं मानते वे आज तक अपनी बुद्धि द्वारा किसी निश्चित सिद्धांत पर न पहुँच सके। शब्द प्रमाण को न मानना ही नास्तिकता है जो यूरोप व अमेरिका को अभी तक आध्यात्मिक रहस्यों तथा ईश्वरीय नियमों को समझने में असमर्थ रख कर भौतिक विकास के चक्र में फंसाकर मानवता को विनाश की ओर ले जा रही है। परमात्मा की वाणी है—

स्थिरैरङ्गैः तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्य-
शेमहि देव हितंयदायुः।

स्वराज्य-स्वतन्त्रता, सुख के साधन प्राप्त करने का ढंग यह है कि मनुष्य अपने प्रयत्नों और विचारों को ईश्वरीय नियमों के अनुसार कर दे। अपने जीवन की गति विधियों को सभी प्राकृतिक ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश के अधीन छोड़ दे। अपने शरीर विज्ञान, वाणिज्य आदि को ईश्वरीय शिक्षा पर आधारित कर दे। तथा ब्रह्म में लीन होकर ईश्वर का आज्ञाकारी हो जावे। स्थितप्रज्ञ, मेधावी तथा विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि जो कुछ वे करें। जो कुछ वे देखें, वे ईश्वरीय

ज्ञान द्वारा करें और देखें। जो कुछ सोचें वह इसी प्रकाश से तपे हुए विवेकशील मस्तिष्क से सोचें।

वे लोग अत्यन्त दुर्भागी हैं जो इस प्रकाश को छोड़कर कोरी बुद्धि के टिमटिमाते दुर्बले दीपक को लेकर अविद्यान्धकार परिपूर्ण संसार में दौड़ते हैं। वह व्यक्ति अन्धा है जो ब्रह्म शक्ति के प्रकाश का सहारा न लेकर अपनी निर्बल बुद्धि पर बैठा हुआ अन्धेरी कोठरी में दरवाजे बन्द कर के बिना दीपक के मार्ग ढूढ़ता हुआ अपने जीवन को बरबाद कर रहा है। क्योंकि जो लोग ईश्वरीय ज्ञान को अपना शिक्षक और पथ प्रदर्शक नहीं समझते वे वस्तुतः असलियत से अनभिज्ञ हैं।

हृदय पटल पर अप्रत्यक्ष रूप में वेद ऋषियों की आत्मा में पहले से ही विद्यमान थे क्योंकि परमपिता परमात्मा जो प्रत्येक के हृदय में है ऋषियों के हृदय में था और वेद जो ईश्वरीय ज्ञान है, ईश्वरीय तत्व है, उस के साथ विद्यमान था। वही क्रमानुसार पूर्व ऋषियों के अधिकार से और ईश्वरीय प्रेरणा से जाग्रत हो गया। ऋषियों ने वेद मंत्रों को अपने हृदय द्वारा अपनी आत्मा में सुना इसी लिए वेदों को श्रुति कहा गया। ईश्वरीय ज्ञान, वेद श्रुति आदि शब्द पर्यायवाचक हैं।

❀ विष्णु भगवान के तीन कदम ❀

वेद में वर्णन आता है कि विष्णु भगवान ने तीन कदम उठाये। एक स्वर्ग में, एक अन्तरिक्ष में और तीसरा पृथ्वी पर। ये तीन कदम किस लिए उठाये? अतोधर्माणि धारयन्—धर्म का धारण करने के लिये तीनों जगत को धर्म के संस्कार देने के लिए, धर्म की शिक्षा देने के लिए। ऐसा ही देवों का भी वर्णन है—यज्ञेन यज्ञ अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। देवों ने यज्ञ का निर्माण किया और लोगों को पहला धर्म सिखाया। कर्तव्य और दूसरे के लिए त्याग करने को सिखाया। यज्ञ का अर्थ तिल-चावल को जलाना नहीं है, यज्ञ का अर्थ है परोपकार ज्ञानदेव महाराज ने कहा है, अपने पर तथा दूसरे पर जो उपकार करना है, उसे यज्ञ कहते हैं यानी उस में केवल परोपकार ही नहीं स्वोपकार भी है। मतलब, दोनों की भलाई के लिए जुटना, इस को कहते हैं। वेदों ने कहा कि यह यज्ञ प्रथम धर्म है।

—आचार्य विनोबा

दो काव्य प्रसंग

श्री अशोक व्याकुल

(१)

कोई तो गुजर गया
सूनी है पगडण्डी
धूल में सनी सी वह
आगई सड़क तक जो
सिर्फ यही कहती है
तुमने
जो शहर नया देखा है
मृगतृष्णा है
धोखा है।

(२)

भूख, वासना
और अतृप्ति का एक जंगल
मुझ में घिर आता है
और मैं
सौंप देना चाहता हूँ
इसे उसे या किसी को भी
संस्कारों की की एक धारा
पता नहीं कहाँ से आती है मुझे
और मैं चिल्ला उठता हूँ—
'मुक्त पुरुष'
'अहं ब्रह्मास्मि'
'तेजोमय अहम्।'

—०—

दे दो प्रभु ! कवच कुण्डल

❀ श्री राजीव कुमार

दे दो प्रभु कवच कुण्डल,
हो रहा व्याप्त जल-थल ।
हिंसा के दूषित भय-बल,
करते जाते शोकाकुल ।

निरन्तर क्लेश करते व्याकुल,
जीवन पथ पर भविष्य होता धूमिल
चीरता, काटता पास खड़ा काल,
अपने शोर से छेड़ता वायु मण्डल ।

योगेश्वर ! प्रभु रामलाल,
पल में हरते विपत्त जाल ।
जीवन संध्या में खिलाओ फूल,
दया कर मिटा दो भूल ।

सुनो ! अब तो कुछ बोल,
सार्थक जीवन-अमृत घोल ।
दे दो मुझे इतना सा बल,
तेरे दर्श को हो जाऊं आकुल ।

❀ संतनि की संपति बनी ❀

जा बिराग के सुखनि कों, मिल्यौ न पारावार ।
तीन लोक की सम्पदा, चरननि रहति निसार ॥
करुना-छिमा-उदारता, सत्य-शील, तप-त्याग ।
संतनि की संपति बनी, हरि-चरननि अनुराग ॥

—श्री [illegible]

दान का निरूपण

❀ श्री मानिकचन्द्र ऊमर वैद्य

दान के दो हेतु, छः अधिष्ठान छः अंग, दो प्रकार के परिणाम (फल), चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाश साधन हैं, ऐसा कहा जाता है।

दान के दो हेतुः—

दान का थोड़ा होना या बहुत होना अभ्युदय का कारण नहीं होता, अपितु श्रद्धा और शक्ति ही दानों की वृद्धि और क्षय में कारण होती है। श्रद्धा के विषय में स्कन्द-पुराण में कहा गया है—

नाप्नुयात्स फलं
किंचिच्छ्रद्धधानस्ततो भवेत्।
श्रद्धया साध्यते धर्मो
महद्भिर्नार्थ राशिभिः।
निष्किंचना हि मुनयः
श्रद्धावन्तो दिवंगताः।
त्रिविधा भवति श्रद्धा
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव
तामसी चैव तां शृणु॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्
यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतान् पिशाचांश्च
यजन्ते तामसा जनाः॥
तस्माच्छ्रद्धावता पात्रे
दत्तं न्यायार्जितं हितम्।
तेनैव भगवान् रुद्रः
स्वल्पे केनापि तुष्यति॥

अर्थात्—शरीर को बहुत क्लेश देने से तथा धन की राशियों से भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई बिना श्रद्धा के अपना सर्वस्व दे दे, अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी उसका वह कोई फल नहीं पाता, इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धा से ही धर्म का साधन किया जाता है। धन की बहुत बड़ी राशि से नहीं। क्यों कि अकिंचन ऋषि-मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही स्वर्ग लोक में गये हैं। देहधारियों में उन के स्वभाव के अनुसार होने वाली श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी।

सात्त्विकी श्रद्धा वाले पुरुष देवताओं की पूजा करते हैं, राजसी श्रद्धा वाले लोग यक्षों और राक्षसों को पूजते हैं तथा तामसी श्रद्धा वाले लोग प्रेतों, भूतों और पिशाचों की पूजा किया करते हैं। इसलिये श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धन का सत्पात्र के लिये जो दान करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो उसी से भगवान् शिव प्रसन्न हो जाते हैं। यथा—

कुटुम्बभुक्तभरणाद्देयं
यदतिरिच्यते।
मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातु
र्धर्मो ऽन्यथा भवेत्॥
शक्ते परजने दाता स्वजने
दुःख जीविनि।
मध्वापानविषादः
स धर्माणां प्रतिरूपकः॥

भृत्यानामुपरोधेन
यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम् ।।
तद्भवत्यसुखोदर्कं
जीवितोऽस्य मृतस्य च ।
सामान्यं याचितं न्यास
समाधिर्दानं च तद्धनम् ।।
अन्वाहितं च निक्षिप्तं
सर्वस्वं चान्वये सति ।।
आपत्स्वपि न देयानि
नववस्तूनि पंडितैः ।
यो ददाति स मूढात्मा
प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।।
(स्कन्द-पुराण-माहेश्वर-खण्ड
कुमारिका-खण्ड ३/३६-४०)

अर्थात्—कुटुम्ब के भरण पोषण से जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है, वही मधु के समान मीठा है। उसी से वास्तविक धर्म का लाभ होता है। इसके विपरीत करने पर वह आगे चलकर विष के समान हानिकारक होता है, दाता का धर्म अधर्म रूप में परिणत हो जाता है। यदि आत्मीयजन दुःख से जीवननिर्वाह कर रहे हों, तो उस अवस्था में किसी सुखी और समर्थ पुरुष को दान देने वाला मनुष्य मधुपान के धोखे में मानो विष—भक्षण करने वाला है। वह धर्म के अनुकूल नहीं है, प्रतिकूल चलता है। जो भरण-पोषण करने-योग्य व्यक्तियों को कष्ट देकर किसी मृत व्यक्ति के लिए (बहु-व्ययसाध्य) श्राद्ध करता है, उसका किया हुआ श्राद्ध उसके जीते जी अथवा मरने पर भी भविष्य में दुःख का ही कारण होता है। जो अत्यन्त तुच्छ हो अथवा जिस पर सर्व-साधारण का अधिकार हो, वह वस्तु 'सामान्य' कहलाती है। कहीं से माँग कर लायी वस्तु को 'याचित' कहते हैं, धरोहर ही का दूसरा नाम 'न्यास' है, बन्धक रखी हुई वस्तु को 'आधि' कहते हैं, दी हुई वस्तु 'दान' के नाम से पुकारी जाती है, दान में मिली हुई वस्तु को 'दान-धन' कहते हैं, जो धन एक के यहाँ धरोहर रखा गया हो और रखने वाले ने उसे पुनः दूसरे के यहाँ रख दिया हो उसे 'अन्वाहित' कहते हैं, जिसे किसी के विश्वास पर उसके यहाँ छोड़ दिया जाय, वह धन 'निक्षिप्त' कहला । है, वंशजों के होते हुये भी सब कुछ दूसरों को देना 'सान्वय सर्वस्व दान' कहा गया है। विद्वान् पुरुषों को चाहिये कि वे आपत्ति काल में भी उपर्युक्त नव प्रकार की वस्तुओं का दान न करें। जो पूर्वोक्त नव वस्तुओं का दान करता है, वह मूढ़चित्त मानव प्रायश्चित्त का भागी होता है।

दान के छः अधिष्ठानः—

धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भ[illegible] ये दान के छः अधिष्ठान कहे जाते हैं। स[illegible] ही किसी प्रयोजन की इच्छा न रखकर केवल धर्म बुद्धि से सुपात्र व्यक्तियों को जो दान

दिया जाता है, उसे 'अर्थ-दान' कहते हैं। वह इस लोक में ही फल देने वाला होता है। स्त्री समागम, सुरापान, शिकार और जुए के प्रसङ्ग में अनाधिकारी मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता है, वह 'काम-दान' कहलाता है। भरी सभा में याचकों के माँगने पर लज्जावश देने की प्रतिज्ञा करके उन्हें जो कुछ दिया जाता है, वह 'लज्जा-दान' माना गया है। कोई प्रिय देखकर अथवा प्रिय समाचार सुनकर हर्षोल्लास से जो कुछ दिया जाता है, उसे धर्म विचारक महात्मा पुरुष 'हर्ष-दान' कहते हैं। निन्दा, अनर्थ और हिंसा का निवारण करने के लिए अपकारी व्यक्तियों को विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे 'भय-दान' कहते हैं। यही दान के छः अधिष्ठान हैं।

दान के छः अङ्ग :—

दाता प्रतिग्रहीता च
शुद्धिर्देयं च धर्मयुक्।
देश कालौ च दानाना-
मङ्गान्येतानिषड् विदुः॥
अपरोगी च धर्मात्मा
दित्सुरव्यसनः शुचिः।
अनिन्द्याजीवकर्मा च
षड्भिर्दाता प्रशस्यते॥
अनृजुश्चाश्रद्दधानो
दुष्टात्मा व्यसनी च यः।
असत्यसंधो निद्रालुर्दाता
तामसो ऽधमः॥
त्रिशुक्लः कृशवृत्तिश्च
घृणालुः संयतेन्द्रियः।
विमुक्तो योनिदोषेभ्यो
ब्राह्मणः पात्रमुच्यते॥
सौमुख्याद्यभिसम्प्रीति-
रर्थिनां दर्शने सदा।
सत्कृतिश्चानसूया च
दाने शुद्धिरिति स्मृता॥
अपराबाधमक्लेशं
स्वप्रयत्नेनार्जितं धनम्।
स्वल्पं वा विपुलं वापि
देयमित्यभिधीयते॥
केनापि स धर्मेण
उद्दिश्य किल किंचन।
देयं तद्धर्मयुगिति
शून्ये शून्यं फलं मतम्॥
यत्रयद् दुर्लभं द्रव्यं
देशे कालेऽपि वा पुनः।
दानार्हौ देशकालौ
तौ स्यातांश्रेष्ठौ न चान्यथा॥

(स्कन्द-पुराण-माहेश्वर-खण्ड कुमारिका-खण्ड—३/५०२७)

के अनुसार दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल ये दान के छः अङ्ग माने गये हैं। दाता नीरोग,

धर्मात्मा, देने की इच्छा रखने वाला, व्यसन रहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्म से आजीविका चलाने वाला होना चाहिये। इन छः गुणों से दाता की प्रशंसा होती है। सरलता से रहित, श्रद्धाहीन, दुष्टात्मा, दुर्व्यसनी, झूठी प्रतिज्ञा करने वाला तथा बहुत सोने वाला दाता तमोगुणी और अधम माना गया है। जिसको कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवन निर्वाह की वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनि-दोष से मुक्त हो, वह ब्राह्मण दान का उत्तम पात्र (प्रतिग्रह का सर्वोत्तम अधिकारी) कहा जाता है। याचकों को देखने पर सदा प्रसन्न मुख हो उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोष दृष्टि न रखना—ये सब गुण दान में शुद्धि कारक माने गये हैं। जो धन किसी दूसरे को सता कर न लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्न से उपार्जित किया गया हो, वह थोड़ा हो या अधिक वही देने योग्य बताया गया है। किसी के साथ कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं। यदि वस्तु उक्त विशेषताओं से शून्य हो तो उसके दान से कोई फल नहीं होता। जिस देश अथवा काल में जो—जो पदार्थ दुर्लभ हो, उस पदार्थ का दान करने योग्य वही देश और काल श्रेष्ठ है; दूसरा नहीं। इस प्रकार ये दान के छः अंग हैं।

दान के दो फल:—

महात्माओं ने दान के दो फल बतलाये हैं यथा—

द्वौ पाकौ दानजौ प्राहुः
परत्रार्थमिहोच्यते।
सद्भ्यो यद्दीयते कि
ञ्चित्तत्परत्रोपभुज्यते॥
असत्सु दीयते यत्तु
तद्दानमिह भुज्यते।
—स्कन्द-पुराण-माहेश्वर खण्ड

अर्थात्—एक तो परलोक के लिये होता है और एक इहलोक के लिये। श्रेष्ठ पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, उसका परलोक में उपभोग होता है और असत् पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, वह दान यहीं भोगा जाता है। ये दो परिणाम बताये गये हैं।

दान के चार प्रकार:—

ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—इस क्रम से द्विजों ने वैदिक दान मार्ग को चार प्रकार का बतलाया है। कुँआ बनवाना, बगीचे लगवाना तथा तालाब खुदवाना आदि कार्यों में जो सब के उपयोग में आते हैं। धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है। प्रतिदिन जो कुछ दिया जाता है, उस नित्यदान को 'त्रिक' कहते हैं। सन्तान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदि के निमित्त तथा इच्छा की पूर्ति के लिये जो दान किया जाता है वह 'काम्य'

कहलाता है। 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकार का बतलाया गया है। वह होम से रहित होता है। जो ग्रहण और संक्रान्ति आदि काल की अपेक्षा से दान किया जाता है, वह 'कालापेक्ष नैमित्तिक दान' है। श्राद्ध आदि क्रियाओं की अपेक्षा से जो दान किया जाता है वह 'क्रियापेक्ष-नैमित्तिक' दान है तथा संस्कार और विद्या-अध्ययन आदि गुणों की अपेक्षा रखकर जो दान किया जाता है, वह 'गुणापेक्ष-नैमित्तिक' दान है। यही दान के चार प्रकार हैं।

दान के तीन भेद:—

दान के तीन भेदों का प्रतिपादन भी इसी पुराण में वर्णित है यथा—

आठ वस्तुओं के दान उत्तम माने गये हैं विधि के अनुसार किये हुए चार दान मध्यम हैं और शेष कनिष्ठ माने गये हैं। यही दान की त्रिविधता है, जिसे विद्वान पुरुष जानते हैं। गृह, मन्दिर या भवन, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण-इन वस्तुओं का दान अन्य दानों की अपेक्षा उत्तम है। अन्न, बगीचा, वस्त्र, तथा अश्व आदि वाहन-इन मध्यम श्रेणी के द्रव्यों को देने से वह मध्यम दान माना गया है। जूते, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि—इन वस्तुओं के दान को श्रेष्ठ पुरुषों ने कनिष्ठ दान बताया है। यही दान के तीन भेद हैं।

दान नाश के तीन हेतु:—

इस प्रकार है जिस दान को देकर पीछे पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्र को दिया तथा जो बिना श्रद्धा के अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है। पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों दान के नाशक हैं।

यदि दान देकर पश्चात्ताप हो तो वह 'आसुर दान' है, जो निष्फल माना गया है। अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है, वह 'राक्षस दान' है। वह भी व्यर्थ ही होता है। ब्राह्मण को डांट-फटकार कर या उसे कटु-वचन सुनाकर जो दान किया जाता है अथवा दान देकर जो ब्राह्मण को कोसा जाता है वह 'पैशाच-दान' माना गया है। उसे भी व्यर्थ ही समझना चाहिये। ये ही तीनों भाव दान के नाशक हैं।

चतुर मनुष्य को अपने परिवार का पालन-पोषण करते हुये। श्री सद्गुरु जी की कृपा से जो थोड़ा या ज्यादा अपने लिये मिले हो वही वस्तु उत्तम ब्राह्मण को दान देना चाहिये। इसी दान का परिणाम उस लोक में मिलता है और अक्षय पुण्य प्राप्त होता है मनुष्य को नित्य-प्रति कुछ न कुछ अवश्य दान करना चाहिये। क्योंकि 'दान' दो अक्षरों का यह शब्द बड़ा ही पुण्य दायक है। और मृत्यु लोक में बड़ा दान। प्रधान है। शेष लोक स्वर्ग लोक में 'दमन' व पाताल लोक में 'दया' को प्रधान किये।

इसलिये जो गूढ़ तपस्या से युक्त और गुरुकृपा से स्वाध्याय का साधन करने वाले हैं तथा जो शान्त चित्त वाले हैं, उन्हीं को दिया हुआ दान सदा उत्तम होता है। उत्तम देश में (काशी प्रयाग आदि तीर्थों में) उत्तम काल (ग्रहण आदि) में श्रेष्ठ उपाय से सत्पात्र को श्रद्धापूर्वक जो द्रव्य दिया जाता है, वही परिपूर्ण दान-धर्म का लक्षण है। केवल विद्या अथवा तपस्या से सुपात्रता नहीं आती। जहाँ सदाचार है और उसके साथ ये दोनों (विद्या और तपस्या) भी है, उसी को उत्तम पात्र कहा जाता है।

संपत्ति और शांति

✻ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

भारत एक छोटा सा देश नहीं है। इस का इतिहास दुनिया के सभी इतिहासों से पुराना है। यहां के लोग बड़े ही गम्भीर और गहराई से सोचने वाले हुए हैं। अगर आज इस देश में कोई बहुत बड़ी कमी है तो वह है हीनता का भाव। यह भाव किसी एक दो व्यक्ति में नहीं बल्कि हमारे राष्ट्र का चरित्र बन गया है। यह राष्ट्र का मनोविज्ञान बन गया है। हम क्लब वगैरह को जितना सहयोग देते है, उसका आधा सहयोग भी यदि योग विद्यालय निर्माण में देते रहें। तो न केवल हम अपने समाज को सुधार सकेंगे बल्कि पूरे संसार को हम यह विद्या दे सकेंगे। योरोप ने आज हमें शिक्षण-पद्धति, चिकित्सा-पद्धति, व्यापार पद्धति और यंत्र-विज्ञान दिया मगर भारत शांति की पद्धति दे सकता है जिसको पाने हेतु दुनिया के बड़े-बड़े देश आज इस तरह तैयार खड़े है जैसे कि लोग सिनेमा के लिये लाइन लगाकर खड़े होते है। तुलना करो कि एक तरफ संपत्ति है और दूसरी तरफ शान्ति और स्वास्थ्य है। मगर यह हमें मालूम नहीं। हम भारतवासी भी योग को केवल नाम ही जानते है।

पश्चिम के वैज्ञानिकों का कहना था। हमारे विज्ञान से आपको सुख मिल सकता है, आपको भोग मिल सकता है लेकिन हम आपको आत्म शान्ति और स्वास्थ्य नहीं दे सकते। उनके कथन का इतना प्रभाव और परिणाम हुआ कि पश्चिम के देशों में योग एक अभियान के रूप में खड़ा हो गया। सब जगह इसकी धूम मच गयी। तब जाकर वहाँ से इसकी हवा हिन्दुस्तान में वापस आयी और हम लोग भी कहने लगे कि दरअसल योग तो बहुत अच्छी चीज है।

योग मनुष्य की तीन महान कमियों को दूर करने के लिये एक महान विज्ञान है। ये कमियां है—आध्यात्मिक प्रकाश की, मानसिक एकाग्रता की, और स्वास्थ्य की। इन तीनों कमियों को योग पूरा कर सकता है। मानसिक विकार शारीरिक बीमारियों के रूप में प्रकट होते है। ये भावनायें आपके कमजोर अंग पर असर कर सकती है। मनुष्य के मन के अन्दर का एक-एक विचार ताकतवर है। एक-एक विचार इतना शक्ति-सम्पन्न है कि वह संजीवनी देकर व्यक्ति को अमर बना सकता है या जहर देकर मार सकता है। योग-मार्ग में जब हम शरीर शुद्धि की बात करते हैं तो निश्चित रूप से जानते है कि जब तक मन विक्षिप्त रहेगा तब तक शरीर भी अस्वस्थ रहेगा और यदि तुम उसको दो मिनट भी निर्विचार कर सकोगे तो बड़ा आनन्द आयेगा।

मन में हमेशा कोलाहल होता रहता है। उस कोलाहल पूर्ण वातावरण से मनुष्य का,

उसके मन को नीरवता की ओर ले जाने वाली साधना का नाम है—योग । नीरवता, निस्तब्धता और शान्ति एक स्थिति है । जो इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उसके लिये दुनिया में और कुछ भी पाने को शेष नहीं जाता। एक बार स्वामी रामतीर्थ ने अपना कोट बाहर छोड़ दिया था। किसी भक्त ने उनको याद दिलाया । उन्होंने कहा—यदि तुम छाया को पकड़ने जाते हो तो छाया भागती है और यदि तुम छाया को छोड़ देते हो तो छाया तुम्हारे पीछे हो जाती है। यही संसार के सुखों का सूत्र है।

आत्मा और जीवन की घटनाओं का वियोग कैसे हो, यह योग से संभव है । थोड़ी देर के लिये यदि तुम अपने विचारों की शृंखला को तोड़ दोगे तो तुम्हारा मन, तुम्हारे विचार और विक्षेप चुप हो जायेंगे । चारों तरफ से खिड़कियों को बन्द कर दो और अन्दर में दीपक को जलाये रखो । एक भी खिड़की खुलेगी तो वासनाओं का बहाव उस दीपक को चंचल कर देगा । गीता में कहा गया है "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।" जिस प्रकार एक दीपक वायु रहित स्थानमें शान्त रहता है और प्रतिकूल इसके वह वायु वाले स्थान में चंचल बन जाता है, उसी प्रकार साधक को साधना द्वारा, ध्यानके द्वारा, प्रत्याहार के द्वारा, धारणा के द्वारा या पूजा पाठ के द्वारा अपनी सब खिड़कियों को बन्द करना चाहिये । जब सब खिड़कियाँ बन्द हो जायेंगी तब ज्योति अपने आप स्थिर हो हो जायेगी । इसी ज्योति का ध्यान हमें अपने अन्दर करना पड़ता है । यह योग का एक पक्ष है। इसी पक्ष को राजयोग, कर्मयोग, भक्ति-योग और तन्त्रयोग में समझाया गया है । सभी योगों में एक ही बात बतलायी गयी है कि इस मन को कैसे चुप रखना ।

ऋषि-मुनियों ने एक बात का पता लगाया कि शरीर के अन्दर जितनी भी नाड़ियाँ हैं उनको शुद्ध करना चाहिये । उन्हें आसन-प्राणायाम और मुद्रा तथा बन्धों से ठीक किया जा सकता है। यह योग का दूसरा पक्ष हुआ। योग का तीसरा पक्ष है। तंत्र। हमारे ऋषि मुनियों ने एक और बात का पता लगाया। उन्होंने कहा कि जैसे काष्ठ में अग्नि छिपी रहती है, दूध में मक्खन छिपा रहता है और तिल में तेल छिपा रहता है उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर एक प्रचण्ड शक्ति छिपी हुई है। इसी शक्ति का मनुष्य जब विभिन्न यौगिक एवं तान्त्रिक अभ्यासों द्वारा जागरण करता है, वह समर्थ बन जाता है। बस यही बिन्दु है। तुम आज असमर्थ हो। तुम्हारा मन न पढ़ाई में लगता है न दुकानदारी में लगता है और न ही घर में लगता है। तुम अपने आप को बहुत ही असमर्थ महसूस करते हो। आज

दु:खज्वाला-दग्ध संसार और शान्ति

❀ प्रेषक श्री अरुणकुमार

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण चन्द्र ने संसार के लिये कहा है—

' दुःखालयमशाश्वतम् '

यह विश्व तो दुःख का घर है। दुःख ही इसमें निवास करते हैं। साथ ही यह अशाश्वत है—नाशवान् है।

सम्पूर्ण विश्व जल रहा है। दुःख की दाव-अग्नि में निरन्तर भस्म हो रहा है यह संसार। क्या हुआ जो हमें वे लपटें नहीं दीख पड़तीं। उलूक को सूर्य नहीं दीखते, अन्धों को कुछ नहीं दीखता—अपने को बुद्धिमान् मानने वाला मनुष्य यदि सचमुच ज्ञानवान् होता—लेकिन यह तो अज्ञान के अन्धकार में आनन्द मानने वाला प्राणी बन गया है उसके नेत्रों पर मोह की मोटी पट्टी बँधी है। कैसे देखे वह संसार को दग्ध करती ज्वाला को।

अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश—ये पांच क्लेश बतलाये महर्षि पतंजलि

(पिछले पृष्ठ का शेष)

पचास पचपन के बाद मनुष्य मृत्यु की राह देखने लगता है। हम लोग बहुत कमजोर हो गये हैं क्योंकि हमारी शक्ति क्षीण हो गयी है।

मनुष्य के इस हड्डी-मांस के शरीर में एक छोटी सी ग्रंथि है और यही छोटी सी ग्रंथि आत्म का बम है। एटम-बम नहीं, आत्मा का बम। अगर यह जग जाय तो तुम असमर्थ नहीं रहोगे। मृत्यु तुमको डरा नहीं सकती, गरीबी तुम को पछाड़ नहीं सकती और असफलता तुम्हारा बाल बांका नहीं कर सकती।

तुम शक्तिशाली होते जाओगे। सम्राट तुम्हारे सामने कुछ नहीं है। क्यों ? क्योंकि तुमने अपने शक्ति स्रोत को पा लिया है। तन्त्र में इसको कहते हैं—कुण्डलिनी। यह जब जागने लगती है तो मस्तिष्क के पर्दे खुलने लगते हैं। मनुष्य की खोपड़ी में कई अरब खरब ऐसे स्थान हैं जो सोये हुये हैं। उन सभी स्थानों को जाग्रत कर हम उस अखण्ड शक्ति के मालिक कैसे बन सकें। ? यही योग का तीसरा पक्ष है।

योग के इन तीनों पक्षों को जानने के लिये एक गुरु पकड़ो। तीनों पर विचार करो और फिर साधना शुरू करो।

अपनी बात समाप्त करने से पहिले एक ही बात कहना है कि आने वाली सभ्यता योग प्रधान होगी और योग एक संस्कृति के रूप में विश्व को प्रभावित करेगा।

ने। अज्ञान, अहंकार, कुछ पदार्थों, प्राणियों, अवस्थाओं की ममता, उनकी कामना और उनसे राग तथा उनके विरोधी पदार्थों, प्राणियों, अवस्थाओं से द्वेष एवं शरीर को आत्मा मानना—कितने ऐसे प्राणी हैं जो इन क्लेशों से मुक्त हैं ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह की ज्वालाओं में जल रहा है संसार। तृष्णा, वासना, अशान्ति बेचैनी का पार नहीं है। मद, मत्सर, वैर, हिंसा—चारों ओर दावानल धधक रहा है। दुःख-दुःख—और दुःख। लेकिन जैसे पतंगे प्रज्वलित दीपक को कोई सुन्दर सुभोग्य वस्तु मानकर उस पर टूटते हैं—प्राणी मोहवश संसार की इन ज्वालाओं को ही आकर्षण मान बैठे हैं। अशान्ति—दुःख-मृत्यु—और क्या मिलना है यहां।

शान्ति और सुख की आशा—संसार में यह आशा ! जलते संसार में भला शान्ति कहाँ ?

शान्ति है। सुख है। आनन्द है। अनन्त शान्ति, अविनाशी सुख, शाश्वत आनन्द—शान्ति, सुख और आनन्द का महासागर ही है एक। उसी महासागर में खड़े हो जाने पर संसार की ज्वाला–त्रिताप का ताप स्पर्श भी नहीं कर पाते।

कहाँ है वह ?

भगवान को छोड़कर भला शान्ति, सुख और आनन्द अन्यत्र कहाँ होंगे। भगवान का भजन ही है वह महा-समुद्र। भगवान का भजन करने वाला भक्त-साधु उस महासमुद्र में स्थित है।

विषयों से वैराग्य, प्राणियों में भगवद्भावना, समता, अक्रोध, सेवा, दृढ़ भगवद्विश्वास जहाँ शीतलता और पवित्रता का यह महासागर लहरा रहा है, कामनाओं की ज्वाला, त्रितापों की ऊष्मा वहां तक पहुँच कैसे सकती है। वहां कामना की अग्नि नहीं है, स्पृहा की ज्वाला नहीं है ममता के माठ विषय का भीषण अन्तस्ताप नहीं है और अहङ्कार की लपटें सदा के लिये शान्त हो गयी हैं।

'विहाय कामान्यः
सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः
स शान्तिमधिगच्छति ॥
—गीता २/७१

इस निरन्तर जलते त्रिताप-तप्त संसार में तो शान्ति है ही नहीं। वह तो है भगवान में—भगवान के भजन रूप महासमुद्र में। उस शान्ति-सुधा-सागर में स्थित होने पर ही इस ज्वाला से परित्राण पाया जा सकता है।

✡✡

मन बैरी के फंद फंसि, भोगे दुःख अशेस।
मनमोहन नहिं गहि सक्यो, काल गहि लिये केस ॥ प्रे०-खुदीराम लखानिया

तपस्विनी माता गाँधारी

श्री नानाभाई भट्ट

गांधारी गांधार देश के राजा सुबल की पुत्री और शकुनि की बहन थी। सुबल राजा ने भीष्म की माँग पर गांधारी को धृतराष्ट्र को देना स्वीकार किया और बहन को लेकर शकुनि हस्तिनापुर आया। वहाँ दोनों का विवाह हुआ। विवाह के दिन से ही गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी चढ़ा ली थी। उस की यह भावना थी कि मेरे पति धृतराष्ट्र अंधे हैं, अतः मुझे भी नेत्र-सुख नहीं चाहिए।

"विदुर भाई!" गांधारी हँसकर बोली, "बहुत देर से ही सही, किन्तु आज देवर बनने के लिये आये तो।"

विदुर ने कहा, "देवी! अपने राज्य-कुल के जीवन में जितनी कृत्रिमता है, उतनी मैंने कहीं नहीं देखी। ऐसा मालूम होता है, मानो हम लोग मनुष्य हैं ही नहीं। हम को अमुक तरह बोलना, अमुक तरह चलना, अमुक तरह हँसना, अमुक तरह खेलना, अमुक तरह खाना और अमुक तरह सोना पड़ता है। जीवन की समस्त क्रियाओं के चौखट तैयार हैं। देवी! कैसा लगता है यह तुम्हें?"

"और कैसा लगेगा?" गांधारी तपाक से बोली, "मैंने तो अपने पिता से कहा था कि सामान्य स्त्रियों के भाग्य में जीवन का जो आनन्द लिखा होता है, वह राजकुमारियों को कदापि नहीं मिलता। फिर भी विदुर, राजकुमारियाँ राजा-महाराजाओं से ही विवाह करने का मोह रखती हैं।"

विदुर ने कहा, "हाँ, मैं जानता हूँ। राजमहल की हवा ही ऐसी हो जाती है कि राजा-महाराजा से विवाह न हो तो जीवन हार जाने-जैसा प्रतीत होता है, और यदि एक बार जीवन में कृत्रिमता प्रवेश कर जाय तो फिर वह कृत्रिमता ही मधुर लगती है और मनुष्य जीवन का स्वाभाविक आनन्द उपभोग करने की शक्ति भी खो बैठता है।"

"ऐसा ही है भाई! तुम सच कहते हो।" गांधारी बोली, "इस प्रकार तुम बहुत सुखी हो। महाराज के भाई होते हुए भी तुम ने झूठी प्रतिष्ठा में जन्म नहीं लिया, अतः तुम इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सकते हो। तुम्हारी माता शूद्र थी, इसलिए तुम भी शूद्र ही गिने गये।"

विदुर बोले, "और तुम्हारी सास क्षत्रिय थीं, अतः तुम राजरानी हुईं।"

"राजरानी होने का ही तो यह दुःख है।" गांधारी ने उत्तर दिया।

विदुर ने कहा, "भाभी ! तुम्हें तो दुहेरा दुःख है।"

"दुहेरा किस बात का ?" गांधारी ने पूछा।

विदुर बोले, "बुरा न मानो तो कह दूं ?"

गांधारीने कहा, "क्या तुम्हारी बात मुझे बुरी लग सकती है ? तुम्हें तो विनोद करने तक का अधिकार प्राप्त है।"

"देवी ! एक दुःख तो यह है, जो तुम कहती हो, और दूसरा दुःख इन आंखों की पट्टियों का है।"

"विदुर ! इन पट्टियों का कोई दुःख नहीं है। यदि दुःख होता तो इन्हें बांधती ही क्यों ?" गांधारी बोली।

विदुर ने पूछा, "देवी ! बड़े भाई के विवाह की बात निश्चित हुई तब क्या तुम से पूछा गया था ?"

"मेरे माता-पिता ने विवाह निश्चित कर ने के बाद मुझे बताया था।" गांधारी बोली।

"क्या तुम्हें यह मालूम था कि बड़े भाई की आंखों से दिखाई नहीं देता ?"

"यह बात तो हस्तिनापुर आने और उन का हाथ पकड़ने के बाद मालूम हुई।"

"उस समय तुम्हें दुःख था या नहीं ?"

"मन का धर्म है, अतः दुःख तो होता ही है। यह अंधेपन की बात मेरी मां ने भी मुझसे नहीं कही थी, इस लिए उस पर मुझे क्रोध भी आया।"

"तो क्या यह कहना असत्य नहीं है कि इन पट्टियों का तुम्हें कोई दुःख नहीं है ?"

गांधारी बोली, "नहीं, मुझे दुःख नहीं है। हां, महाराज का अंधापन ज्ञात हुआ, तब तो मन को आघात लगा; किन्तु उसके बाद तो मैंने इस आघात को तुरन्त दूर कर दिया।"

"और रास्ता भी क्या था ?"

"नहीं भाई, तुम को ऐसा नहीं कहना चाहिए। हम गांधार की कन्यायें इन विषयों में बहुत स्वतंत्र मत रखती हैं। मेरी जगह यदि और कोई कन्या होती तो वह विवाह मंडप से ही उठकर चली जाती।"

"तो तुम ने ऐसा क्यों नहीं किया ? यदि ऐसा किया होता तो बड़े भाई को अच्छा पाठ मिलता।"

"मेरी मनोवृत्ति भिन्न प्रकार की है।"

विदुर ने पूछा, "तो तुम्हें बेमेल विवाह से घृणा नहीं ? देवी, क्षमा करना, महाराज के विषय में हम ऐसी बातें कर रहे हैं, इस से वह चिढ़ेंगे तो नहीं ?"

गांधारी बोली, "इस में चिढ़ने की क्या बात है ? मैं उन से कहूं तब न ! तुम तो मेरी तरफ से निश्चिंत रहो।"

"तो तुम्हें बेमेल विवाह से घृणा नहीं ?"

गांधारी बोली, "भाई विदुर ! सच बात कहूं ! तुम मुझे पुराने विचारों की कहना

चाहो तो भले ही कहना, किन्तु दुनिया के ये समस्त विवाह बेमेल है और बेमेल ही रहने वाले है।"

"देवी! तुम ने तो परमेश्वर की सृष्टि पर पानी फेर दिया!"

गांधारी बोली, "विदुर! सच कहती हूं। अनमेल विवाह तीन प्रकार के होते है—एक शारीरिक, दूसरे मानसिक और तीसरे आध्यात्मिक। गांधार में घर-घर बेमेल सम्बन्ध है और हस्तिनापुर में भी भरे पड़े होंगे।"

विदुर ने पूछा, "ऐसे अनमेल विवाहों को समाज से दूर क्यों न किया जाय?"

गांधारी बोली, "अनमेल विवाह दूर करने के अनेक प्रयास गांधार में होते है और हुए है, किन्तु मुझे तो यह प्रयास अंधे कुएं में डुबकी लगाने के समान प्रतीत होते है।"

"अनमेल विवाहों का दुःख दूर करने के लिए अनेक देशों में विच्छेद की प्रथा प्रचलित है, किन्तु एक स्थान से छोड़ने के बाद जो सम्बन्ध दूसरी जगह स्थापित होता है, वह बेमेल नहीं होगा, इस का कोई निश्चय नहीं है। कितने ही देशों में बेमेल विवाह का दुःख स्थायी न रहने देने के लिए विवाह दो-तीन वर्ष के लिए किये जाते है और तीन वर्ष के बाद पति-पत्नी अलग हो जाते है। कितने ही स्थानों में अनमेल सम्बन्धों के भय से लोग विवाह करते ही नहीं और जीवन ऐसे ही स्वतंत्र रूप से व्यतीत करते है। अनमेल सम्बन्धों से छुटकारा पाने के लिए ये सब हमारे उपाय है। किन्तु इन में से एक भी शुद्ध और सच्चा मार्ग नहीं है।"

विदुर ने कहा, "देवी! क्या दुनिया में एक भी ऐसी वस्तु है, जिसका कोई उपाय न हो?"

"इस का भी उपाय है।" गांधारी बोली, "अनमेल सम्बन्ध अनिवार्य है, ऐसा मैं कहती हूं; किन्तु मेरा यह तात्पर्य नहीं कि उनका उपाय नहीं करना चाहिए। मनुष्य यह तो कर सकता है कि शारीरिक दृष्टि से अनमेल सम्बन्ध न हो। मन आध्यात्मिक सम्बन्ध है, फिर भी इस विषय में हमारे जैसे मनुष्यों के लिए शरीर का भी सम्बन्ध रहता है, अतः माता-पिताओं को पति-पत्नी के शरीरों के बारे में पूरा ध्यान रखना चाहिए और यदि मां बाप लापरवाही करें तो पुत्र पुत्री को उन का विरोध करने का अधिकार है। मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बेमेल सम्बन्ध न हो, इस बारे में मां-बापों और स्त्री-पुरुषों को यथा सम्भव ध्यान रखना चाहिए और पूरी खोज-बीन करने के बाद ही विवाह बन्धन में पड़ना चाहिए। किन्तु ऐसे विषयों में एक-दूसरे के मन और आत्मा का मेल है अथवा नहीं, यह मालूम कर सकना अत्यन्त कठिन है। मां-बाप लग्न का निर्णय करते है, तब तक मुझे नहीं

लगता कि ऐसा होगा। स्त्रियां बड़ी उम्र होने पर स्वयं पति पसन्द करें तो भी यह भय रहता है। बात केवल यह है कि वर पसन्द करने की स्वतंत्रता रहने के कारण उस स्वतंत्रता के चैन में दुःख कम अनुभव होता है। बाकी दुनिया इस दुःख में से तभी छूट सकती है, जब मन और आत्मा को माप ने के किसी यन्त्र की खोज हो जाय।"

"तो फिर तुम क्या उपाय सुझाती हो?" विदुर ने पूछा।

"ध्यान रखने पर शारीरिक दृष्टि से अनमेल सम्बन्ध हो जाय और लग्न के बाद ऐसा होना सम्भव है—तो उस दशा में एक ही राजमार्ग है और वह यह कि स्त्री पुरुष उन्हीं भोगों का उपभोग करें, जिन को वे समान भाव से भोग सकते हों और शेष भोगों को त्याग दें। मैं तुम्हारे बड़े भाई की सह-धर्म-चारिणी बनने की प्रतिज्ञा कर के आयी हूँ, अतः मुझे लगा कि जो भोग वह अपनी आंखों से नहीं भोग सकते, उन भोगों का मुझे भी सेवन नहीं करना चाहिए। इस लिए मैंने यह पट्टी बांधी है।" गांधारी ने कहा।

"देवी! यह कोई बड़ी बात नहीं। पति अंधा हो या कुरूप अथवा लूला-लंगड़ा हो, इस से कोई बड़ा भारी अनमेल सम्बन्ध नहीं हो जाता। हम लोगों ने तो क्षुद्र-सी बात को बड़ा रूप दे दिया। किन्तु जिस प्रकार महाराज की खातिर तुम ने आंखों पर पट्टी बांधी, उसी प्रकार यदि महाराज के और तुम्हारे जीवन में मानसिक अथवा आध्यात्मिक भिन्नता का भय प्रतीत हो तो क्या करोगी?" विदुर ने प्रश्न किया।

'प्रतीत क्या होगा, होता ही है।' गांधारी बोली, "नया-नया विवाह हुआ हो, उस समय शरीर-धर्म प्रधान होता है, अतः यह नहीं मालूम हो सकता कि मन और आत्मा में मेल है अथवा नहीं। किन्तु धीरे-धीरे यह अन्तर अधिकाधिक मालूम होने लगता है। मेरे उदाहरण में भी ऐसा ही हुआ।"

"ऐसे समय तुम क्या करती हो?"

"ऐसे समय," गांधारी बोली, "मुझे तुम्हारे भावों से विचारसरणि योग्य प्रतीत होती है। मन और आत्मा का मेल नहीं मिला, इस लिए दुःख भाग बड़ा होना मुझे मूर्खता ही मालूम होती है। स्त्री-पुरुष दोनों में जिसका मन उच्च भूमिका पर स्थित हो, उसे दूसरे को उच्च भूमिका पर लाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए और इस कोशिश में जितना सहन करना पड़े, उतना सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। देखो न, तुम से क्या छिपा है? तुम्हारे बड़े भाई को राज्य अपने ही अंश में रखने का लोभ है अतः मैंने दुर्योधन को त्याग करने के लिए कहा तो किस प्रकार कांप उठे? ऐसे हमारा अनमेल सम्बन्ध

कहोगे अथवा नहीं ? किन्तु मैं यह सहन कर रही हूं और महाराज अपने रावण-लोभ से किस प्रकार मुक्त होकर ऊँची भूमिका पर स्थित हों, इसीका विचार और प्रयत्न करती हूं। इसी का नाम सहधर्माचार है। सहधर्माचार का विचार करती हूं: तभी समझ में आता है कि दुनिया में चाहे जितनी शालाएं स्थापित करो और चाहे जैसी शिक्षा दो, किन्तु ये तमाम ही दुनिया की ऊंची-से-ऊंची शालाएं हैं और स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे के गुरु हैं। आज मैंने महाराज को अपना गुरु बनाया है और मैं उन्हें अपने विचारों-जैसा बना लूंगी, तभी विश्राम लूंगी।"

विदुर ने कहा, "देवी ! गुरु तो वास्तव में तुम हुई।"

"नहीं, अभी तो वही गुरु हैं।" गांधारी ने कहा, "उन्हें किस प्रकार ऊंचा उठाया जाय, यह मुझे उनके पास से सीखना है। उन्हें मैं अपने विचार से सहन न कर सकूंगी और भी अधिक तपश्चर्या करनी पड़ेगी। अतः आज तो वास्तव में वही मेरे गुरु हैं।"

"फिर भी सोचो, धृतराष्ट्र ऐसे-के-ऐसे ही रहेंगे तो क्या करोगी ?"

"तो फिर अगले जन्म में देखा जायगा। मैं जन्म-जन्मान्तर में भी उन्हीं को मांगने वाली हूं। विदुर ! मनुष्य के जीवन में परिवर्तन करने के लिए एक जन्म क्या बहुत लम्बा समय है ? इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, और अगले जन्म में नहीं तो तीसरे जन्म में सफलता मिलकर रहेगी।"

"गांधारी ! तुम्हें मेरे हजारों नमस्कार हैं।" विदुर ने श्रद्धा से सिर झुकाकर कहा, "तुम्हें अपने पर इतना अधिक आत्म-विश्वास है और है इतनी तुम्हारी उग्र तपस्या। महाराज समझें तो उनके जैसा कोई दूसरा भाग्यशाली नहीं। देवी ! हृदय में एक बात लेकर जाता हूं। दुनिया में जोड़ और बे-जोड़ व्यक्तियों का मिल एकत्र करने में भी ईश्वर का कोई संकेत हो जाता है। इस संकेत की गुत्थी को जो धीरज और कुशलता से सुलझाता है, वह जीवन के ध्येय को जल्दी प्राप्त करता है, और जो आकुल होकर गुत्थी सुलझाने के बजाय उसे काट डालता है, उस के मार्ग में वही गुत्थी बार-बार लौट कर आती है और अब सारे ही गोले को काट कर फेंक देना पड़ता है। देवी ! अब मैं जाऊंगा। गांधारी से मजाक करते हुए इतना अधिक सीखने को मिलेगा, इस की मुझे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। देवी ! तुम्हारी धर्म-बुद्धि से मैं तृप्त हो गया हूं। अब तो मैं तुम्हें बार-बार वाक्य काट दूंगा।"

"विदुर भाई ! सुख-पूर्वक जाओ। अंधों की समय-समय पर खबर लेते आओगे तो मैं भाग्यशाली होऊंगी।" गांधारी ने कहा और विदुर को आशीर्वाद देकर विदा किया।

कर्मविपाक-मीमांसा

डा० श्री शान्तिप्रकाशजी आत्रेय

'निष्काम कर्म' तथा 'सकाम कर्म' भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं। निष्काम कर्म रागरहित कर्म होते हैं। इन कर्मों के द्वारा बन्धन की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इनके द्वारा जाति, आयु, भोग—ये तीनों ही प्राप्त नहीं होते। निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म आगे सांसारिक कर्म-बन्धन पैदा नहीं करता।

सकाम कर्म के द्वारा ही जाति, आयु और भोग—ये तीनों प्राप्त होते हैं। इन कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति एक विशिष्ट स्थान, कुल, वातावरण, जाति एवं शरीर को प्राप्त करता है। शरीर को 'भोगायतन' कहा गया है। सत्य तो यह है कि कर्म के द्वारा शरीर प्राप्त होता है और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि शरीर द्वारा कर्म होते हैं। संसार स्वयं कर्म जाल है। इसकी उत्पत्ति आदि सब प्राणी के कर्मों के ऊपर आधारित है। कर्मों को भोगने के हेतु देह की आवश्यकता होती है। शरीर के बिना कर्म और भोग दोनों ही नहीं होते। शरीर के द्वारा चार प्रकार के कर्म होते हैं:—

(१) शुक्ल (पुण्य या धर्म)
(२) कृष्ण (पाप या अधर्म)।
(३) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पापमिश्रित)।
(४) अशुक्ल-अकृष्ण (न पुण्य, न पाप)।

जिन कर्मों से अपना पराया किसी का अहित नहीं होता, किसी प्राणी को कष्ट प्राप्त नहीं होता, बल्कि परहित अर्थात् दूसरों को सुख पहुँचता है, वे कर्म ही 'शुक्ल कर्म' कहे जाते हैं। इन कर्मों से धर्मरूप कर्माशय उत्पन्न होते हैं। इन धर्मरूप कर्माशयों से कर्ता को सुख प्राप्त होता है। इन कर्मों के फलभोग के अनुसार वासनाओं की उत्पत्ति होती है, इसी कारण कर्म-फल भोगने के लिये ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म लेना पड़ता है। ये भी संसार चक्र में डाले रखने वाले कर्म हैं। समाज के लिये अकल्याणकारी अर्थात् असामाजिक कर्म जिनके द्वारा दूसरों का अहित होता है तथा प्राणियों को कष्ट होता है, वे कर्म 'कृष्ण कर्म' कहलाते हैं। इस प्रकार के कर्म करने वाले को 'पापी' कहते हैं। ये अधर्मरूप कर्माशय को उत्पन्न करने वाले कर्म हैं, जिनसे कर्ता इनके फल भोगने के लिये उसके अनुरूप जन्म ग्रहण करता है। अधर्मरूपी कर्माशय के फलस्वरूप कर्ता को दुःख भोगने पड़ते हैं। ये पापकर्म भी व्यक्ति की मनोवृत्ति से प्रभावित होते हैं, जिससे कि निश्चितरूप से फल भुगवाते हैं और प्राणी को संसार चक्र में डाले रहते हैं।

सामान्यरूप से साधारण व्यक्ति के कर्म

पाप-पुण्यमिश्रित होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा समाज में किसी का अहित होता है, जिसके फलस्वरूप उसको दुःख प्राप्त होता है और किसी का हित होता है, जिसके फल-स्वरूप उसको सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मों के फलों के अनुरूप गुणों वाली वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और उनके अनुसार ही प्राणी जाति, आयु और भोग प्राप्त करता है और सुख दुःखादि फल भोगता है। इन वासनाओं के द्वारा कर्म में प्रवृत्ति होती है और पुनः कर्म के द्वारा वासनाएँ बनती हैं। इस रूप से पुण्य-पापमिश्रित कर्मों वाले प्राणियों को उनकी मनोवृत्तियों के कारण सुख-दुःखरूपी कर्म-फल प्राप्त होते रहते हैं।

वासनामय कर्म अर्थात् रागपूर्ण कर्म ही प्राणियों को निरन्तर संसार चक्र में घुमाते रहते हैं। सत्य तो यह है कि वासनामय कर्म ही संसार है। इनके बिना संसार चक्र समाप्त हो जाता है। कर्म स्वयं में फल प्रदान करने की शक्ति नहीं रखते। यह तो कर्ता की मनो-वृत्ति ही फल प्रदान करती है।

जो कर्म फलों की आशा से रहित होते हैं, उन निष्काम कर्मों को 'अशुक्ल-अकृष्ण कर्म' कहते हैं। ये कर्म किसी भी मनोवृत्ति से नहीं किये जाते। वासनाओं से प्रेरित होकर न किये जाने के कारण इनसे धर्म-अधर्मरूप कर्माशय उत्पन्न नहीं होते और इसी कारण कर्मों का फल भी प्राप्त नहीं होता। योगी लोग इसी प्रकार के कर्म करते हैं। वासना ही बन्धन का कारण है। वासना रहित कर्म धर्म-अधर्मरूप नहीं होते। कर्मों के किये बिना तो प्राणी का शरीर नहीं रहता। कर्मों में प्रवृत्त करने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश— ये पञ्च क्लेश नहीं होने चाहिये। केवल कर्त्तव्य के लिये कर्म करने चाहिये। आत्म संतुष्ट व्यक्ति के लिये अपना कोई भी कार्य नहीं रह जाता। उसके जितने कार्य होते हैं वे सब वासना रहित होते हैं। उसके सारे कार्य ईश्वर और समाज के कार्य होते हैं। वह अज्ञानी की तरह अपने को कर्म करने का अभिमानी कर्ता समझकर उनमें आसक्त नहीं होता। इसी कारण वह समस्त कर्मों को करते हुए भी निर्लिप्त रहता है १.। सुख-दुःख, पाप-पुण्य वास्तव में आत्मा को छूकर भी नहीं जाते, क्योंकि यह तो त्रिगुणा-त्मक प्रकृति की ही देन है और अज्ञान के कारण निर्विकार, शुद्ध चैतन्य आत्मा को त्रिगुणात्मक शरीर से बाँधते हैं। उस बन्धन के कारण आत्मा अपने को सीमित, सुखी, दुःखी, कर्त्ता एवं भोक्ता समझने लगता है। इन त्रिगुणों के कारण अहङ्कार उत्पन्न होता है। यह अहङ्कार जब ज्ञान के द्वारा समाप्त हो जाता है, तब कर्म करने का अभिमान भी समाप्त हो जाता है और इस कर्म करने के

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ५।१०,११,१२।

अभिमान के समाप्त होने पर कर्म फल-प्रदान करने की शक्ति से हीन हो जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्णमिश्रित कर्म क्रम से धर्म, अधर्म तथा धर्माधर्मरूपी कर्माशयों को पैदा करने के कारण प्राणी को जन्म-मरणरूपी संसार के चक्र में घुमाते रहते हैं, किन्तु इसके विपरीत निष्काम कर्म अर्थात् अशुक्ल-अकृष्ण कर्म वासनारहित होने के कारण कर्म बन्धन को उत्पन्न नहीं करते।

सामान्य सांसारिक व्यक्ति अपने सब दुःख-सुख भाग्य के अधीन बतलाने लगते हैं। उन बेचारों को यह पता नहीं है कि वस्तुतः में भाग्य उनके पूर्व के कर्मों द्वारा निर्मित होता है। वर्तमान कर्म भविष्य के भाग्य को बनाने वाले होते हैं। पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माण करता है। किये हुए पुरुषार्थ अथवा कर्मों के फल की प्राप्ति का नाम ही 'भाग्य' है। पूर्वकृत कर्म के अतिरिक्त भाग्य और कोई वस्तु नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। वर्तमान शुभ कर्मों के द्वारा पूर्व काल के अशुभ कर्मों पर विजय प्राप्तकर अशुभ कर्मों के फल को शान्त किया जा सकता है, किन्तु यह सब होते हुए भी शुभ और अशुभ कर्म दोनों ही संसार चक्र को चलाने वाले कर्म हैं और प्राणी को सुख-दुःख रूपी भोग भुगवाते रहते हैं। मानव शरीर की यही विशिष्टता है कि वह अपने पूर्व कर्मों का भी भोग भोगता है और साथ ही नवीन कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह संसार के बन्धन से छुटकारा भी प्राप्त कर सकता है। अतः सत्पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होकर संसार-सागर से पार उतरना चाहिये।

मानव को संसार बन्धन में बांधने वाले कर्म 'अविद्यामूलक कर्म' कहे जाते हैं। उपर्युक्त शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण—ये तीनों कर्म अविद्यामूलक हैं। इनके अतिरिक्त 'अशुक्ल-अकृष्ण कर्म' ही अश्लिष्ट कर्म हैं, जिनके द्वारा साधक जन्म-मरण के प्रभाव से बच जाता है।

प्राणी के ऊपर अन्य जन्मान्तरों के कर्मों की छाप पड़ी होती है। वे संस्कार और भावनाओं के रूप में अज्ञात रूप से विद्यमान रहते हैं। चित्त की वृत्तियों के अनुसार चित्त में पड़ी छाप को ही 'संस्कार' कहते हैं। संस्कार ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक—तीन प्रकार के होते हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वजन्म तथा जन्म से पूर्व गर्भावस्था के संस्कार भी होते हैं, जिनकी वृत्तियों से हमारी वासनाएँ होती हैं और वे ही हमारी रुचियों और प्रवृत्तियों को बनाती हैं। योग के द्वारा चित्त के समस्त संस्कारों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा ज्ञान प्राप्त करके उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—शुभ-अशुभ कर्म

धर्माधर्मसंबंधी कर्माशयों को उत्पन्न करते हैं, जिनके द्वारा जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते रहते हैं। आत्मा अनादिकाल से संसार-चक्र में पड़ा है तथा अनन्त कर्मों में भ्रमण करता आ रहा है। जब तक इन समस्त अनुष्ठान-संस्कारों को निरोध संस्कार से समाप्त नहीं कर दिया जायगा, तब तक जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे सब वासनाओं से हमारे चित्त में विद्यमान रहते हैं। कर्माशय भी कई प्रकार के होते हैं। कुछ कर्माशय इसी जन्म में फल देने वाले होते हैं, कुछ दूसरे जन्म में तथा कुछ इस प्रकार के कर्माशय होते हैं जो इस जन्म में भी तथा अग्रिम जन्म में भी फल देते हैं। उग्र कर्मों के द्वारा तत्काल फल प्राप्त होता है। उग्र पुण्य-कर्म तथा उग्र पाप कर्म (दुखी को सताना, विश्वासघात तथा तपस्वियों को कष्ट पहुँचाना) दोनों ही तुरन्त वर्तमान जीवन में फल प्रदान करते हैं। उग्र पुण्यों के कारण नहुषने इन्द्रत्व प्राप्त किया था। साथ-ही-साथ ऋषियों को लात मारने के उग्र पाप से सर्प योनि को प्राप्त हो गये। शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वरकुमार का मनुष्य शरीर शिवजी की उग्र पूजा आदि से देव शरीर में परिवर्तित हो गया था अर्थात् उसने देवत्व प्राप्त किया था।

हिन्दू सनातन धर्म में कर्म के विषय में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से विवेचन किया गया है। कल्याण की इच्छा वालों को शास्त्राभिमत कर्मों का आचरण करना चाहिये तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का निश्चित रूप से त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कर्म सूक्ष्म रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं वे संस्कार रूप से चित्त में रहने के कारण बिना भोगे नहीं रहने देते। ये कर्माशयरूपी संस्कार फोटोग्राफ की नेगेटिव प्लेट की तरह या टेप रिकार्ड की तरह से हैं। अतः जब तक चित्त में संस्कार स्थित हैं, तब तक उन्हें भोगने के लिये निश्चित रूप से जन्म लेना ही पड़ेगा। संस्कारों को समाप्त करने के लिये योग में बतायी गयी विधियों से अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि अभ्यास के द्वारा संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं और कर्म-फल प्राप्त नहीं होता। सारे संसार का खेल इन संस्कारों के ऊपर है। ये जब समाप्त हो जाते हैं तो संसार भी समाप्त हो जाता है। इन संस्कारों का जाल बड़ा विचित्र है। चित्त के जन्म-जन्मान्तरों के अनन्त कर्मों के अनन्त संस्कारों में से कुछ संस्कार प्रबल रूप से जागते हैं और कुछ मध्यरूप से। जो संस्कार प्रबलरूप से जागते हैं, उनको 'प्रधान' कहा जाता है। दूसरे 'उपसर्जन' कहलाते हैं। मृत्यु के समय प्रधान संस्कार जाग्रत होकर पूर्व-जन्म के समस्त अन्य समान संस्कारों को जाग्रत कर लेते हैं, जिससे कि उन कर्माशयों के अनुकूल फल-भोग प्राप्त करने के लिये

अग्रिम जन्म तथा आयु निश्चित होती है। जिस जाति में जन्म होता है, उस जाति के पूर्व के समस्त जन्मों के संस्कार उदय हो जाते हैं और उन्हीं के अनुकूल भोग प्राप्त होता है। अन्य जातियों के समस्त संस्कार सुप्तावस्था में रहते हैं। जिस प्रकार बीज में वृक्ष विद्यमान होता है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, उसी प्रकार से सम्पूर्ण कर्म संस्काररूप से प्राणी के चित्त में विलीन रहते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अज्ञानी पुरुष उनका स्मरण भी नहीं कर पाते, किन्तु वे देश-काल की अनुकूलता प्राप्त कर यथा-शक्ति और यथा योग्य फल प्रदान करते हैं। कर्म संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण भेद से तीन प्रकार के होते हैं। जो कर्म केवल संस्काररूप से विद्यमान होते हैं और उनके फल भोगने की अवधि नहीं आयी है, ऐसे समस्त जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों को 'संचित-कर्म' कहते हैं। कर्माशय के अनन्त कर्मों में से जिन कर्मों को भोगने के लिये हमें वर्तमान जाति और आयु प्राप्त हुई है, उन कर्मों को 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं। इस जन्म में अपनी इच्छा से संग्रह किये हुए कर्मों को 'क्रियमाण कर्म' कहते हैं। क्रियमाण कर्मों के द्वारा नवीन संस्कारों की उत्पत्ति होती है और पूर्व के कर्माशयों में वृद्धि होती है। क्रियमाण कर्मों में से कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो संचित कर्मों में मिश्रित होकर सुप्तावस्था में पहुँच-कर विपाक होने पर कभी अग्रिम जन्मों में फल देते हैं। कुछ इस प्रकार के भी उग्र क्रिय-माण कर्म होते हैं, जो इसी जन्म में प्रारब्ध कर्मों के साथ मिश्रित होकर फल प्रदान करते हैं। प्रधान कर्माशयों को अर्थात् प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये प्राणी को एक निश्चित आयु मिलती है। प्राणी प्रारब्ध कर्मों का फल भोगकर ही मरता है। इन कर्मों के द्वारा ही वर्तमान जाति, आयु और भोग निश्चित होते हैं। इसी कारण से यह 'नियत विपाक कर्म' कहे गये हैं। योग में इन्हें 'दृष्ट जन्मवेदनीय' कहा है। इन कर्मों को भोगने से ही प्राणी को छुट्टी नहीं मिल जाती, किन्तु उसे तो संचित कर्मों में से नियत विपाक होने वाले कर्मों को भोगते रहना पड़ता है। कर्माशयों में निरन्तर क्रियमाण कर्मों के मिश्रित होने से कर्माशयों की वृद्धि इतनी अधिक होती चली जाती है कि उनका निरन्तर जन्म ग्रहण करके भी भोग समाप्त नहीं होता। संचित कर्मों के संस्कार सुप्तावस्था में रहते हैं। अतः उन्हें 'उपसर्जन' कहते हैं। इन कर्मों का फल निश्चित न होने से इन्हें 'अनियत विपाक' कहते हैं। इन कर्मों को बिना भोगे साधारण प्राणी नहीं बचता, किन्तु फिर भी इनके भोगने का क्रम निश्चित न होने से इन्हें योग में 'अदृष्ट जन्मवेदनीय' कहा है। ये संचित कर्म योगियों के द्वारा दग्धबीज किये जाने पर

ही आगामी जन्मों को उत्पन्न नहीं करते और संसार चक्र से सदैव के लिये छुटकारा प्रदान कर देते हैं, क्योंकि योगियों के क्रियमाण कर्म होते ही नहीं, इन्हें तो केवल प्रारब्ध कर्मों को ही भोगना पड़ता है।

वासनाओं के क्षयक्षीण होने पर ही मुक्तावस्था प्राप्त होती है। समस्त संचित कर्म क्षयक्षीण हो जाने पर भी व्यक्ति को प्रारब्ध कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा प्राप्त नहीं होता। यह अवस्था योगी को जब हो जाती है तो उसे 'जीवन्मुक्त अवस्था' कहते हैं। उसके लिये न कुछ हेय है, न उपादेय। साधारण मनुष्य की तरह भोग करते हुए भी वह समस्त वासनाओं से रहित रहता है। उसके समस्त व्यवहार अनासक्त भाव से होते हैं। उसके लिये भोग और त्याग समान हैं। सदैव समभाव में स्थित रहने वाला जीवन्मुक्त व्यक्ति अलिप्त होकर समस्त सांसारिक कर्मों को अन्य व्यक्तियों की तरह से ही करता है। अहंभाव तो उसमें उदय होता ही नहीं। हर काम में लिप्त प्रतीत होता हुआ भी सब कार्यों से विरक्त होता है। निन्दा और स्तुति का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। नहीं वह मुनि रहित होता है। बाह्य व्यवहार से वह अज्ञानियों के समान ही रह सकता है। वह सदैव शान्त, अविचलित, अहङ्काररहित, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि से रहित मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रियादि को किसी काल में अपना न समझने वाला होता है। वह स्वाभाविक रूप से ही नैतिक होता है। उसके सब व्यवहार आदर्श होते हैं। उसके लिये सब समान हैं। वह सबका प्रिय और सबका मित्र है। अत्यधिक व्यस्त दीखते हुए भी भीतर से एकान्त शान्त रहता है। उसका मन, शरीर, इन्द्रिय आदि पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वास्तविक रूप से यही पूर्ण स्वस्थ एवं सुखी जीवन है। प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाने पर ऐसा व्यक्ति शरीर को छोड़कर जीवन्मुक्त अवस्था से 'विदेहमुक्त' अवस्था को प्राप्त करता है और सदैव के लिये संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है। इस विदेह अवस्था में किसी भी कर्म (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) के संस्कार शेष नहीं रह जाते। यही मानव का परम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिये अनेकानेक मार्ग शास्त्रों में बताये गये हैं तथा सम्पूर्ण योग शास्त्र का मार्ग भी इस अवस्था की प्राप्ति के लिये ही है।

❁❁

❁ जैसा कर्म वैसा फल ❁

जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है। जिनको नित्य परमेश्वर के परमानन्द का अनुभव करता है, उन्हें स्वप्न में भी किंचित् मात्र क्लेश नहीं होता। वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

—श्रुति-सार

आयुर्वेद में बस्ति-एनिमा

श्री महावीरप्रसाद पोद्दार

एक बार कलकत्ते के एक नामी प्राकृतिक चिकित्सक मित्र ने प्राकृतिक चिकित्सा के उपचार में ९० प्रतिशत लाभ एनिमा से होता हुआ बतलाया। मैंने उनसे कहा कि मनुष्य के बीमार पड़ने में, और अच्छा होने में भी, ७० प्रतिशत भाग भोजन का मानना चाहिए। उस समय तो वह चुप रहे। सोचने-विचारने के बाद, दूसरे दिन बोले, "यह सही है कि नब्बे प्रतिशत मनुष्यों का स्वास्थ्य भोजन की गलतियों से बिगड़ता है और उसे अच्छा करने में भोजन सुधार का नब्बे प्रतिशत स्थान है; लेकिन बिगड़े हुए स्वास्थ्यको तत्काल रास्ते पर लाने में नब्बे हिस्सा काम एनिमा करता है, यह तो आपको मानना पड़ेगा।" उन्होंने बहुतों पर अनुभव करने के बाद यह मत बनाया है और दूसरे लोगोंका हजारों रोगियों का अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। इस से इतना सिद्ध है कि कब्ज दूर करने के निर्दोष साधनों में एनिमा का बहुत बड़ा स्थान है।

कुछ लोग एनिमाको नये जमाने की उपज मानते हैं, वे इसकी खोज का सेहरा डाक्टरों के सिर बांधते हैं, पर वास्तव में तो यह अद्भुत वस्तु बहुत पुरानी है।

यूनान के प्राचीन काल के एक नामी हकीम जालीनूस ने लिखा है कि हकीम बुकरात के उस्ताद ने एक बार एक लम्बी चोंच वाले (शायद सारस) पक्षी को देखा, जो बहुत बहुत मछलियां खाकर पेट के दर्द से परेशान था। उसने अपनी चोंच से समुद्र का नमकीन पानी अपनी गुदामें डालकर पाखाना निकाला, उसे देखकर उस्ताद ने आदमी पर इस की आजमाइश की और इसे ठीक पाया।

इस किस्से में सत्यका हिस्सा कितना है, इस की जांच का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है।

यूनानके चिकित्सा-साहित्य में इसे 'हुकना' या 'दवा-उल-मुबारक' (महान औषधि) कहा है।

कहते हैं, कांगो मुल्क के निवासी जंगली बैल के सींग में छेद करके उसके द्वारा आंतों में पानी पहुँचाया करते थे।

यूरोप वाले एनिमा के नये रूप की उत्पत्ति चार-पांच सौ साल पहले मानते हैं। उसके सौ साल बादही वहां इसका ऐसा प्रचार हुआ कि फ्रांस के तेरहवें राजा लुई को एक डाक्टर ने ६ महीने में दो सौ बीस एनिमा देने की बात ग्रंथों में उल्लेख करना आवश्यक समझा गया।

लेकिन भारत में तो बस्ति बहुत पुराने समय से प्रचलित है। आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ 'चरक', जिसका रचना-काल तीन हजारसाल पहले सिद्ध हुआ है एवं 'सुश्रुत' तथा 'अष्टांग

संग्रह' में इसके बनाने का विस्तृत वर्णन है और इसके प्रयोग के बहुत लाभ बतलाये गये हैं। संस्कृत में बस्ति मूत्राशय को कहते हैं। बस्ति भैंस, बैल, हिरन और सुअर के मूत्राशय से बनायी जाती थी। मूत्राशय न मिलने पर जानवरों के दूसरे-दूसरे चमड़ों से भी बनती थी। मूत्राशय से बनने के कारण ही इस का नाम 'बस्ति' पड़ा।

उस समय बस्ति द्वारा पूरे आदमी को को सेर-सवा सेर पानी दिया जाता था। पानी खालिस नहीं रहता था, उसमें कई ओषधियां औटाकर बस्ति द्वारा वह पानी बड़ी आंत में पहुँचाया जाता था। उस पानी में अनेक औषधियां डालने पर भी बस्ति का बड़ा फायदा तो बड़ी आंतों की सफाई ही माना था। बड़ी आंतों की सफाई सादे गरम पानी से भी उतनी ही हो जाती है और बस्ति के सब-के-सब लाभ मिल जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सकों ने इस में से दवा की एक बारगी निकाल दिया। मालूम होता है, आयुर्वेद-काल में दवा का जोर था, मुँह की भांति ही, बस्ति द्वारा भी, कुछ दवा अन्दर पहुँचाना उस समय जरूरी समझा जाता था। लेकिन बस्ति में दी जाने वाली चीजें उतनी जोरदार नहीं होती थी, जितनी मुँह से दी जाने वाली। आज के डाक्टर भी एनिमा के द्वारा कुछ औषधियां—ग्लिसरिन तथा साबुन-मिला पानी—देते हैं। पर प्राकृतिक चिकित्सा में तो पानी में सिर्फ खट्टे नींबू का एक-दो तोला रस मिलाना काफी माना जाता है।

चरक, सुश्रुत आदि के वर्णनों से मालूम होता है कि कई हजार साल पहले भारतवर्ष में बस्ति के बारे में पूर्ण और सूक्ष्म जानकारी थी। उसका पूरा प्रचार था। लोग उस के लाभों से पूरी तरह परिचित थे। उस समय एनिमा का ज्ञान आज की अपेक्षा कम नहीं था।

आयुर्वेद के सर्व प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' में बस्ति की प्रशंसा में कहा गया है :

बस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बला-
 ग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां
 निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥

—बस्ति युवावस्था को बनाये रहती है, आरोग्य, आयु, बल, अग्नि, मेधा (बुद्धि) स्वर तथा वर्ण को सुन्दर करती है। सारे प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। बालक, वृद्ध, युवा सब के लिए हितकर है। इसमें कोई खतरा नहीं है यह सब रोगों को नाशक है।

याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गाद्
 गर्भं गृह्णन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च
 तेषां च बस्तिः परमः प्रदिष्टः॥

—पुरुषों के समागम से जिन स्त्रियों को वात के उपद्रवों के कारण गर्भ नहीं ठहरता और जिन पुरुषों को इन्द्रियां (या वीर्य) क्षीण हैं और जो कृश (दुबले-पतले) हैं, उनके लिए बस्ति परम उपयोगी है।

विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां
विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यत्
बस्तेर्विना भेषजमस्ति किंचित्॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति
सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके॥

—मल, मूत्र, पित्त तथा कफ आदि के बढ़ने, रुकने तथा निकलने का कारण वायु ही है। वही तीनों मार्गों में (शाखागत, कोष्ठगत, मर्मगत—अस्थिसंधिगत) व्याश्रित रोगों का प्रधान कारण माना जाता है। उस वायु के बहुत बढ़ जाने पर बस्ति के सिवा उसकी शांति की दूसरी कोई दवा नहीं है। इसीलिए बस्ति को कुछ लोग आधी चिकित्सा कहते हैं और कुछ सम्पूर्ण।

आध्मापने विग्रथिते पुरीषे
शूले च भक्तानभिनन्दने च।
एवं प्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ
ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः॥

—पेट फूलने, पुरीष की (मल की) गांठें पड़ जाने पर शूल की पीड़ा में और भोजन में अरुचि होने पर या इसी प्रकार के कोठे या पेट के अन्य रोगोंमें बस्तिका देना अभीष्ट है।

"तत्र स्नेहादीनां कर्मणां
बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः

सुश्रुतकार ने भी बस्ति की बड़ी प्रशंसा की है:

शरीरोपचयं
वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च
बस्तिः सम्यगुपासितः॥

—आचार्यों ने स्नेहन, स्वेदन, विरेचन—इन सबमें बस्ति-कर्म को प्रधान बतलाया है।

उचित प्रकार से उपयोग करने पर बस्ति शरीर को पुष्ट करती है, बल को बढ़ाती है, वर्ण को सुन्दर करती है, आरोग्य देती और आयु बढ़ाती है।

बस्तिर्वाते पित्ते च
कफे रक्ते च शस्यते।
संसर्गे सन्निपाते च
बस्तिरेव हितः सदा॥

—वायु, पित्त, कफ, रक्तविकार तथा सन्निपात में भी बस्ति हितकारी है।

वायोर्विघाते वेगं नान्या
बस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य
वेला वेगमिवोदधेः॥

—जैसे हवा के झोकों से उछलने और बहने वाले समुद्र के वेग को किनारे के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं रोक सकती, वैसे ही त्रिदोषों के प्रकुपित होने पर बढ़े हुए वायु के वेग को बस्ति के सिवा दूसरी क्रिया नहीं रोक सकती।

'चरक' में बस्ति लेने के प्रकार पर भी विचार किया गया है।

वामाश्रयोऽग्निर्ग्रहणी गुदं च
तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः
लीयन्त एव वलयश्च तस्मात्
सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम् ॥

अग्निग्रहणी और गुदा वाम भाग में अवस्थित होने के कारण उस करवट लेने से बस्ति भीतर सुखपूर्वक पहुँच जाती है। अतः बस्ति के लिए बाईं करवट लेटना चाहिए।

अगर बीच में मल आने लगे तो :

विड्वातवेगो यदि
चार्पितस्य ।
निष्कृष्य मुक्ते
प्रणयेत् शेषम् ।
उत्तानदेहश्च
कृतोपधानः ।
स्याद्वीर्यमाप्नोति
तथास्य देहम् ॥

—यदि बस्ति के आधा ही लेने पर मल या मलद्वार का वेग हो तो नली को निकाल लें, वेगत्याग के बाद सीधे—चित्त लेट जाएँ और सिर के नीचे तकिया रख लें।

सम्यक् बस्ति के लक्षण :

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं
रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थिता च
बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम् ॥

—पुरीष, मूत्र और वायु का अच्छी प्रकार आना, रुचि, जठराग्नि-वृद्धि, आशय या कोष्ठ की लघुता, रोग की शांति तथा प्रकृतिस्थितता (दोषों का सम होना) तथा बल की उत्पत्ति, इन लक्षणों से जानना चाहिए कि बस्ति ने पूरा-पूरा काम किया है।

आश्चर्य है कि आयुर्वेद के प्रधान ग्रंथों में पंच कर्मों (स्वेदन, स्नेहन, वमन, विरेचन, बस्ति) की इतनी चर्चा और महत्ता होते हुए भी आज का वैद्य-समुदाय इससे बिल्कुल कोरा रहता है किसी वैद्य को अपने रोगियों पर एनिमा का उपयोग करते नहीं देखा जाता।

वैद्य-समुदाय को कम-से-कम एनिमा जैसी सादी और लाभदायक वस्तु को तो अपनाना चाहिए था। मालूम नहीं, क्यों वैद्य बुरी तरह उससे घबराते हैं। यह वैद्यों के बिल्कुल घर की वस्तु है, उसका वर्तमान रूप और नाम विदेशी हो सकता है पर वह चाहे उसे 'एनिमा' न कहें, 'बस्ति' कहें।

आयुर्वेद में जैसे शरीर-शोधन के लिए पंच कर्म हैं वैसे ही हठयोग में—नेति, धौति, नौलि, बस्ति, त्राटक, कपालभाति—षट् कर्म हैं। हठयोगी को प्राणायाम और ध्यान के लिए पहले सब नाड़ियों की शुद्धि आवश्यक

होती है। प्राणायाम के लिए शरीर की दशा को खूब स्वस्थ होना चाहिए।

षट्कर्मों की व्यवस्था शरीर-शोधन के लिए ही है। उन कर्मों में बस्ति एक प्रधान कर्म है। हठयोग की बस्ति का विकास आयुर्वेद के बाद हुआ जान पड़ता है, क्योंकि एक तो हठयोग-काल आयुर्वेद-काल के बाद का है, दूसरे 'बस्ति' शब्द के 'हठयोग' में आने से भी यही प्रतीत होता है। मूत्राशय से बनने के कारण आयुर्वेद में 'बस्ति' नाम पड़ा, लेकिन हठयोग में बिना किसी औजार की मदद के गुदा द्वारा पानी खींचे जाने की विधि होने के कारण मूत्राशय से सम्बन्धित बस्ति शब्द के उपयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी। पर आयुर्वेद में मल शुद्धि के लिए एक वस्तु का नाम 'बस्ति' रख दिया गया था, जान पड़ता है कि इसीलिए हठयोग वालों ने भी उस क्रिया को इसी शब्द से अभिहित किया :

बस्ति के लाभ के बारे में 'हठयोग-प्रदीपिका' में कहा गया :

गुल्मप्लीहोदरं चापि
वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन
क्षीयन्ते सकलामयाः॥

—बस्ति-कर्म से वायुगोला, तिल्ली, उदर और वात-पित्त, कफ से पैदा सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कांति दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्याद्
अभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म॥

—जल बस्तिकर्म (सात) धातुओं, इन्द्रियों और अन्तःकरण को प्रसन्न करने वाला, मुख पर सात्विक कांति लाने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, वात, पित्त, कफ आदि दोषों की वृद्धि और कमी को मिटाकर समता-रूपी आरोग्य देने वाला है।

हठयोग की बस्ति में न किसी औजार की आवश्यकता होती है, न किसी पिचकारी की। इसे करने वाला कमर-भर पानी में सामने झुककर घुटनों पर दोनों हाथ रखकर खड़ा होता है और गुदा द्वारा अढ़ाई तीन सेर पानी आंतों में भरकर बाहर आकर निकाल देता है। दो-तीन बार में इस क्रिया से आंतों की खूब सफाई हो जाती है। लेकिन न इस का सीखना इतना आसान है, न करना ही। गुदा पानी खींचने में काफी मेहनत करनी पड़ती है और आज तो आवश्यकता होने पर मुग्ध समझ कर वह एनिमा से ही काम लेता है। एनिमा की अपेक्षा इस क्रिया में कई विशेषताएं हैं, लेकिन यहां उसके विचार के लिए स्थान नहीं है।

'हठयोग प्रदीपिका' के दो श्लोकोंमें बस्ति कर्म के जो फायदे बतलाये गये हैं, वे वास्तव में तो आंतों की सफाई के लाभ ही हैं।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

अधमाधनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमा मान मिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥

अधम मनुष्य धन की इच्छा करते हैं, मध्यम मनुष्य धन और मान की इच्छा करते हैं किन्तु उत्तम केवल मान की इच्छा करते हैं क्योंकि मान ही सब से बड़ा धन होता है।

× × × × ×

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥

तमोगुण का लक्षण काम है, रजोगुण का अर्थ है और सतोगुण का लक्षण धर्म है। ये तीनों उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं।

× × × × ×

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नहि कश्चित श्रृणोतिमाम् ।
धर्मार्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि अर्थ और काम को धर्म पूर्वक ही ग्रहण करने में कल्याण है, पर इसे कोई सुनता नहीं है।

—व्यास

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म वह नियम है, जिसके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और अर्थ काम और मोक्ष सरलता से मिल जाते हैं।

× × × × ×

विधाय प्रेषिते वृत्ति जीवेन्नियम मास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैर गर्हितैः ॥

यदि पति अपनी पत्नी का बिना प्रबन्ध किये परदेश चला जाय तो वह स्त्री अनिन्दित शिल्पों के द्वारा अपना निर्वाह करे।

अनिन्दित शिल्पों का अर्थ है वैदिक शिल्प। वैदिक शिल्प वे हैं जो अपने घर में अपने हाथ से किये जांय। जैसे चरखा कातना, धान कूटना, वस्त्र सीना आदि।

× × × × ×

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनांहियथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।

× × × × ×

आयुः सत्त्व बलारोग्य सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः॥

आयु, सत्व, बल, आरोग्य सुख और सौन्दर्य के बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर आहार ही सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं।

× × × × ×

हिमालयंभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः।
अर्धयोजन विस्तारः पञ्च योजनमायतः॥
परि मण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तम पर्वतः।
ततः सर्वा समुत्पन्ना वृत्तयोद्विजसत्तम॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभः॥

संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। उसमें एक योजन चौड़ा और पांच योजन घेरे वाला मेरु है। जहां पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियां निकलती हैं। यहीं पर ब्राह्मण ज्ञानी पुरुष उत्पन्न हुए।

महाभारत के यह श्लोक इस बात का प्रमाण है कि आदि सृष्टि में मनुष्योत्पत्ति हिमालय के मध्य मेरु प्रदेश में हुई, और यही अमैथुनी सृष्टि थी।

—:०:—

खड़े होकर करने के—

कतिपय उपयोगी आसन

ताड़ासन—

गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको समरेखा में करके सीधा खड़ा हो एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रक्खे। ऊपर वाले हाथ को धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जाय और नीचे वाले को ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

फल—सारे शरीर को नीरोग रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श रोग का नाश करना इत्यादि है।

गरुड़ासन—

सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को भी उसी प्रकार लपेट कर हथेली में हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास ले जाय।

फल—पैरों के स्नायु की शुद्धि, अण्डकोष की वृद्धि का रोकना, घुटने और कोहुनियों आदि के दर्द का नाश करना है।

द्विपाद मध्यशीर्षासन—

दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मस्तक को आगे की ओर झुकाकर दोनों पैरों के बीच में ले जाकर पृथिवी पर लगावे।

फल—पेट के स्नायु, कमर, मेरुदण्ड और वीर्यवाही नसों का पुष्ट होना है।

पादहस्तासन—

सीधे खड़े होकर धीरे-धीरे आगे की ओर झुककर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े, उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाये घुटने पर सिर को लगा दे।

फल—तिल्ली, यकृत, कोष्ठबद्धता आदि का दूर होना। देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होगी।

हस्तपादाङ्गुष्ठासन—

सीधा समसूत्र में दोनों पैरों को मिलाकर खड़ा हो, एक पैर को सीधा उठाकर कटि-प्रदेश की जगह तक लेजाय, दूसरे हाथ से उस पैर के अँगूठे को पकड़ कर सीधा ताने, दूसरा हाथ कमर पर रखे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावे।

फल—पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयवों का बलवान् होना है।

कोणासन—

टाँगों को फैलाकर समसूत्र में खड़ा हो, तत्पश्चात् एक हाथ को सीधा रखकर दूसरे हाथ से बायीं ओर झुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल—पीठ, कमर का नीरोग होना, स्नायुओं में रक्त और खून का संचार इत्यादि है। (शेष पृष्ठ ४३ पर पढ़िए)

बृहदारण्यक उपनिषद के आधार पर—

द---द---द--द

● आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल

शब्द नित्य है। अर्थ नित्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। वही दैवी वाक् का संकेत ही मेघ गर्जना में हमें प्राप्त होता है।

द —द—द

ये तीन अक्षर प्रजापति के महान उपदेश हैं। कोई एक देशीय शास्त्र इन्हें कहने के लिए नहीं चाहिए। सब देशों और कालों में व्योम के अशान्त उदर में इन तीन अक्षरों का नाद भरा रहता है। मेघ-ध्वनि समय समय पर इनकी व्यञ्जना किया करती है। इन संकेतों के अर्थों को हम जब चाहें, जहां चाहें सुन सकते हैं। व्यक्ति की शान्ति भी इन्हीं अर्थों पर निर्भर है।

देव, असुर और मनुष्य किसी लोक विशेष में नहीं यहीं पर मिलने वाली वृत्तियों के भेद हैं। देव, असुर और मनुष्यों के लिए एक ही परिणाम वाले सुख दुखादि भोग हैं। इसलिए दैवी वाक् भी एक ही है। परन्तु शक्ति वैचित्र्य से अर्थों में भेद कर लिया जाता है।

द—दाम्यत्

देवों के लिए एक ही अनुशासन है—आत्म-शासन करो। ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय जय, साधनायें सब इसी के विस्तार हैं। व्यक्ति के जीवन के ये व्यापक मंत्र हैं जहां प्रथम द के अर्थों में जागरूक श्रद्धा रहती है वहीं शान्ति प्रत्यक्ष रूपेण विराजती है। जब भी कभी हम वास्तविक शान्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, प्रजापति के प्रथम उपदेश (द— दाम्यत) को मानना ही पड़ेगा।

असुरों के लिए प्रजापति की वाक् क्या कहती है?

द—दयध्वम्—

दया की उपासना करो। हिंस्र प्रवृत्तियों का दमन करो, रक्त-पिपासा का संयम करो, हिंसा युद्ध भीषण अशान्ति के कारण हैं। आज तो चारों ओर लड़ाई की भेरी बज रही है। शक्ति पीस-पीसकर सैनिक जंग के लिए कमर कस रहे हैं। एक हाथ में नंगी तलवार लेकर, मुख से शान्ति का मन्त्र उच्चारण करने से शान्ति कभी नहीं होगी! सच्ची शान्ति के लिए प्रजापति के अर्थों को मानना ही पड़ेगा। इस उपदेश को हम चाहे आज सुनें चाहें दस बरस बाद सुनें, पर, इसको बिना सुनें गति नहीं।

समाज की जो विषमतायें हैं, जिनके कारण पारस्परिक कलह मचा हुआ है, उन को दूर करने का यदि कोई उपाय है तो वह है प्रजापति का तीसरा उपदेश—

द—दत्त

दान दो, बांटकर खाओ, संचय मत करो,

वितरण का पाठ पढ़ो। धन और उपभोग की सामग्री सब को प्रिय लगने वाली है। उनको भोग करना सुख-मूलक है। पूंजीपति और मजदूरों के झगड़े की बुनियाद क्या है। गरीब अमीर का संघर्ष क्यों है। व्यक्तियों का आपसी संघर्ष क्यों है! इसलिए कि सब धन का सब, अकेले ही उपभोग करना चाहते हैं। दान यज्ञ की भावना नष्ट हो गई है। मनुष्य जब तक उदार हृदय से धन का व्यवहार करते हैं, शान्ति से फलते-फूलते हैं। वे ही जब आपा-धापी मचाते हैं तब अशान्ति उत्पन्न होती है। समाज की व्यवस्था चाहे जैसी बनाइए केवल उसी से पारस्परिक द्वन्द्व नहीं मिट सकते। मनुष्यों के हृदयों में औदार्य होना चाहिए।

जैसे शस्त्रों की सीमा बांधने से युद्ध की शान्ति नहीं हो सकती उसके लिए दयध्वम् की भावना चाहिए। ठीक वैसे ही व्यक्ति के धन की सीमा बनाने से आर्थिक शान्ति नहीं हो सकती। इसके लिए मनुष्यों में बांटकर खाने की उदार भावना होनी चाहिए।

प्रजापति विश्वव्यापी शक्ति है, उसकी वाक् भी विश्वव्यापी है। उस वाक् के संकेत दम, दया, दान भी सब देश और सब कालों के लिए हैं। मनन कीजिए प्रजापति के प्रार-म्भिक उपदेश पर।

द—दाम्यत
द—दयध्वम्
द—दत्त

इन तीनों का आचरण ही, मानव जीवन की सार्थकता हो सकती है

(पृष्ठ ५२ का शेष)

नमस्कार आसन—

सीधे खड़े होकर पांव, घुटने, पीठ, गला और सिर सम सूत्र में रखकर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

ऊर्ध्व नमस्कार आसन—

दोनों हाथों को सीधे ऊपर ले जाकर ऊर्ध्व दिशा में हाथ जोड़कर नमस्कार करना। इसमें पेट को भीतर ऊपर आगे बढ़ाकर हाथों को जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है।

हस्त पादासन—

हाथों को ऊपर से नीचे लाकर दोनों पांवों के दोनों ओर भूमि पर रख दें। घुटने सीधे रहें और पेट अन्दर आकर्षित रहे।

पुण्य और अपुण्य कर्म

दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश हैं। अतः जो कर्म अविद्या आदि के विरुद्ध होते हैं या जिनके द्वारा ये क्षीण होते हैं, वे पुण्य कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों द्वारा अविद्या आदि अपेक्षा कृत क्षीण हो जाते हैं वे भी पुण्य कर्म कहलाते हैं और अविद्यादि के पोषक कर्म, अपुण्य या अधर्म कर्म होते हैं।

—भगवान व्यास

नये वर्ष का मूल्य भेजिए

अप्रैल ८६ ई० से 'सिद्धयोग' अपने जीवन के १९ वें वर्षमें प्रवेश कर रहा है। इस अवसर पर उसका प्रवेशाङ्क-विशेषाङ्क भी प्रकाशित होरहा है। मार्च ८६ ई० का प्रस्तुत अंक पहुँचने पर ग्राहकोंका १८वें वर्ष का मूल्य जो जमा कराया गया था चुकता हो जायगा, अतः नये वर्ष का अग्रिम मूल्य २५ रुपया सभी ग्राहक भाई बहनों को व्यवस्थापक 'सिद्धयोग' कार्यालय, योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवाई आगरा के पते पर मनीआर्डर द्वारा शीघ्रातिशीघ्र भेजने की व्यवस्था करनी चाहिए—ताकि नये वर्ष का विशेषांक प्रकाशित होते ही उन्हें अविलम्ब भेजा जा सके।

महाप्रभु जी के जयन्ती-महोत्सव में पधारने वाले ग्राहक भाई-बहन अपना मूल्य, आश्रम स्थित कार्यालय में भी जमा करके रसीद प्राप्त कर सकते हैं।

निवेदक—

व्यवस्थापक—'सिद्धयोग'

श्री सिद्ध गुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई—आगरा

सुलेखकों और सुकवियों से निवेदन

सदा की भांति 'सिद्धयोग' के १९ वें वर्ष का प्रवेशाङ्क-विशेषाङ्क महाप्रभु जी की जयन्ती के शुभ अवसर पर जो चैत्र शुक्ला ७, ८, और ९ वीं को सवाई आश्रम परिसर में मनायी जायगी—प्रकाशित होगा। विशेषाङ्क सभी दृष्टियों से संग्रहणीय और उपयोगी-सामग्री से परिपूर्ण होगा। 'सिद्धयोग' के सभी विद्वान लेखकों और सुकवियों से तथा उन सब साधना प्रिय गुरु भाई-बहनों से— जिन्हें अपनी ध्यानानुभूतियां लिखकर भेजने में रुचि है—२० मार्च तक अपनी लिखित सामग्री, लेख तथा कविता आदि भेज देने की प्रार्थना है। विलम्ब से आने वाले लेखों का यथा-स्थान छपना दुष्कर रहता है अतः लेख भेजने में शीघ्रता का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है।

लेख, कहानी, कविता, संस्मरण आदि योग परक ही होने चाहियें तथा उन का मौलिक होना भी आवश्यक है।

विनीत—

संयुक्त सम्पादक

(शेष ८ वें पृष्ठ का)

जाता है क्षण भर में सारी रामायण याद आ जाती है।

लेकिन पाषाण मूर्ति को देखने के लिये जरा दूर जाना पड़ता है। पाषाण मूर्ति को गढ़ने में भी श्रम करना पड़ता है हम जो इन मूर्तियों, पुतलियों, चित्रों आदि के द्वारा अपने बड़े छोटे या प्रिय व्यक्तियों के प्रतीक बनाते हैं वे उतने सहज साध्य नहीं है।

अतः नाम सब से बड़ा प्रतीक है। इन्द्र का स्वरूप क्या है ? इन्द्र की मूर्ति कैसी हो ? मीमांसक इसका उत्तर देते हैं। 'इ' और 'द्र'— इन्द्र—ये दो अक्षर ही इन्द्र का स्वरूप है। यही उस की अक्षर मूर्ति है। सारी शब्द-सृष्टि को मथकर इस एक ॐ अक्षर का निर्माण किया है। ॐ में सारे स्वर आ गये है, सारे व्यञ्जन आ गये हैं। सारा साहित्य आ गया है, सारे वेद आ गये हैं। ॐ परमेश्वर की ही साहित्य मूर्ति है।

नाम एक महान प्रतीक है। नामके उच्चारण के साथ ही सब बातें याद आ जाती है। इस अक्षर प्रतीक में कितनी ज्यादा शक्ति है। इमली का नाम लेते ही मुँह में पानी आ जाता है। मिर्च का नाम लेते ही मुँह जलने लगता है। इन नामों को आप को आप कम न समझें। सारा संसार नाम रूपात्मक है। लेकिन ये रूप भी नाम में समा जाते हैं। और केवल नाम ही शेष रहता है।

इस दृष्टि से हमें प्रतीकों को देखना चाहिये जब हमें गहराई से देखने की दृष्टि मिलजाती है, तब एक प्रकार का आनन्द होता है। फिर हमें वे क्रियायें और वे चिह्न अर्थ पूर्ण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमने वस्तुओं के अंतरंग को स्पर्श कर लिया है। बाह्य छिलके से किसको सन्तोष होगा ? अतः यदि भारतीय संस्कृति के अन्तरंग को स्पर्श करना है, उसके सच्चे स्वरूप को समझना है, तो गहरी दृष्टि प्राप्त कीजिये। फिर आपको इस संस्कृति का अन्तरंग, प्रेम से खिला हुआ पवित्रता से सजा हुआ, त्याग से प्रज्वलित, माधुर्य से पूर्ण, ज्ञान से अलंकृत, आशा से सुशोभित, उत्साह से स्फूर्त आनन्द से पूर्ण दिखलाई दिये बिना न रहेगा।

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं० ४

१.	प्रकाशन का स्थान—	श्री सिद्धगुफा, सर्वाई, आगरा (उ० प्र०)
२.	प्रकाशन का समयावधिक्रम—	मासिक
३.	मुद्रक का नाम—	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा-१
४.	प्रकाशक का नाम—	सर्वाई कृते सिद्धगुफा प्रकाशन
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सर्वाई आगरा।
५.	सम्पादक का नाम—	योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
	राष्ट्रीयता—	भारतीय
	पता—	श्री सिद्धगुफा सर्वाई, आगरा
६.	स्वत्वाधिकारी—	अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

मैं, देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है

कृते सिद्धगुफा प्रकाशन

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

प्रेषक-कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (परमादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

काल महाकाल : जन्म और मृत्यु

काल महाकाल स्पन्द का महासागर। भयभीत होने की नहीं। रस लेने की बात है यह। भयङ्कर नहीं सुन्दर है यह।

विचार कर देखिए कि मृत्यु पहले कहाँ थी। भले ही दिखायी न दे, पर जन्म में ही निहित थी। जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म, इसी प्रकार जिस प्रकार कि दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन। दोनों परस्पर सापेक्ष है, एक नहीं तो दूसरा भी नहीं। रात्रि नहीं तो दिन भी नहीं, और दिन नहीं तो रात्रि भी नहीं। रात्रि होती है दिन के लिए और दिन होता है रात्रि के लिए। इसी प्रकार जन्म न हो मृत्यु भी नहीं और मृत्यु न हो तो जन्म भी न हो। जन्म में ही मृत्यु और मृत्यु में ही जन्म है। जन्म होता है मृत्यु के लिए और मृत्यु होती है जन्म के लिए। देखा जाय तो न यहाँ मृत्यु है न जन्म। है मात्र स्पन्दन। —जितेन्द्रवर्णी

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बबई कर्ता, लालगंज, आगरा-२ फोन ६३१६८